मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति

संपादक : मुनि दुलहराज
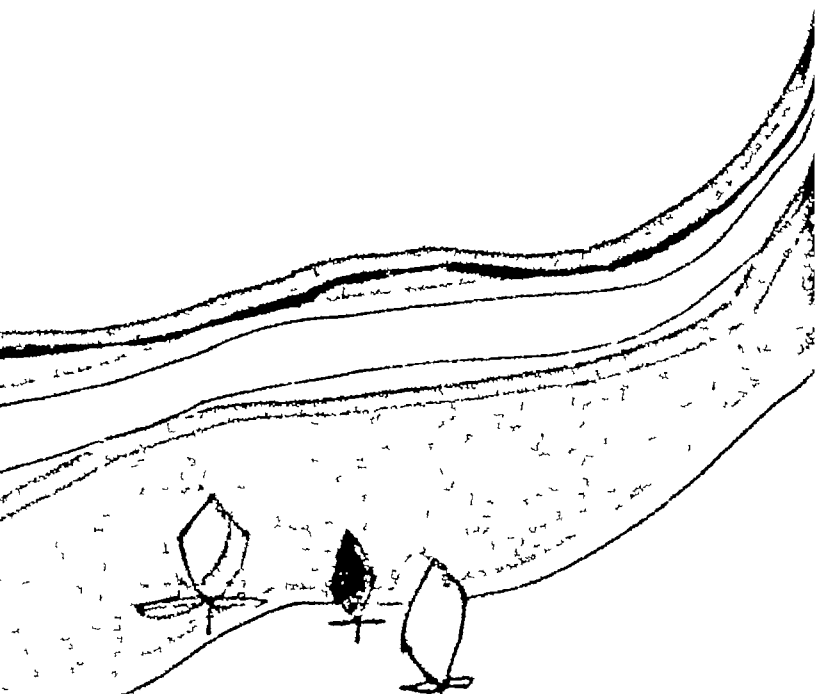
मैं मेरा मन मेरी शान्ति

मुनि नथमल

तीसरी आवृत्ति

प्यास जीवन की शाश्वत अपेक्षा है और जल उसका चिरकालीन समाधान। कठ और होठो मे प्रकट होनेवाली यह प्यास अन्तिम प्यास नही है। एक प्यास इससे भी गहरे मे है। वह इससे अधिक तीव्र है। वह इतनी गूढ है कि उसके समाधान की दिशा अभी भी अनावृत नही है। उसके समाहित होने पर मनुष्य का हर चरण तृप्ति और सुख की अनुभूति के नीलोत्पल का स्पर्श करते हुए आगे बढता है और उसकी असमाहित दशा मे मानवीय चरण क्लेश और क्लाति के कटकाकीर्ण पथ की अनुभूति में विदीर्ण हो जाता है। नियति का कितना क्रूर व्यग्य है कि मनुष्य को सुख की साधन-सामग्री उपलब्ध है, किन्तु उसकी अनुभूति का महास्रोत उपलब्ध नही है। वह है शान्ति।

शान्ति चेतना की नकारात्मक स्थिति नही है। वह मन की मूर्च्छा नही है। वह अत करण की क्रियात्मक शक्ति है। अन्त करण जब अन्त करण का स्पर्श करता है, मन जब मन मे विलीन होता है और चैतन्य का दीप जब चैतन्य के स्नेह से प्रदीप्त होता है तब क्रियात्मक शक्ति प्रकट होती है। वही है मन की शान्ति।

शान्ति का प्रश्न जितना युगीन है उतना ही प्राचीन है। इसके शाश्वत स्वर को श्रव्य करने का यह विनम्र प्रयत्न आपके हाथो मे है। इसकी माग भी उतनी ही है जितनी शान्ति की है। इसकी माग उस चाह की पूर्ति का निमित्त बन सके, इसके अतिरिक्त मेरे लिए अभिलषणीय क्या हो सकता है?

मुनि नथमल

स्वास्थ्य निकेतन
जैन विश्व भारती (लाडनू)
१ अप्रैल, १९७७

प्राथमिकी

'मैं और मेरा मन' यह सम्बन्ध-परिकल्पना अनेक वितर्क उपस्थित करती है। क्या मन को छोड़कर 'मैं' (अहं) की व्याख्या की जा सकती है? क्या मन ही अपनी कल्पनाओं में उलझकर 'मैं' की स्थापना या व्याख्या नहीं कर रहा है? क्या बुद्धि मन का ही एक प्रकोष्ठ नहीं है? अतीन्द्रिय ज्ञान की परिकल्पना क्या वास्तविक है? ऐसे अनेक वितर्क हैं और हजारों-हजारों वर्षों से वे इसी भाषा में पुनरावृत्त होते आ रहे हैं। सामान्य मनुष्य का ज्ञान परोक्षानुभूति की सीमा में होता है। इसलिए चर्चित प्रश्न उत्तरित होकर भी अनुत्तरित रहे हैं। इन प्रश्नों के समाधान का ऋजु मार्ग है मन का स्थिरीकरण और विलयीकरण। इसी स्थिति का नाम आत्मानुभूति है।

मन के विलयन के पश्चात् जो अनुभूति होती है, वह श्रुत या शब्द-ज्ञान नहीं होता। वह चेतना की उस गहराई से उद्भूत ज्ञान होता है, जिस तक मन पहुंच ही नहीं पाता। इन्द्रिय और मन की खिड़की को खोलकर देखने वाला वही देख पाता है, जो उनकी पकड़ में होता है। किन्तु क्या सत्य उतना ही है, जितना उनकी पकड़ में है? यदि सत्य उतना ही होता तो वैज्ञानिक उपकरण अप्रयोजनीय हो जाते। इन्द्रिय और मन की पकड़ में भी बहुत तारतम्य है। यदि वह नहीं होता तो विज्ञान का स्तर तरतमता से शून्य होता। हजारों-हजारों वर्षों की लम्बी अवधि में मनुष्य को जो ज्ञात हुआ है, वह अज्ञात की तुलना में एक बिन्दु से अधिक नहीं है। अज्ञात के सिन्धु को तैरे बिना ज्ञात के बिन्दु को 'इदमित्थमेव' से आवृत करने का अर्थ होता है शेष सत्य की अस्वीकृति। कोई भी तत्त्वविद् ऐसा करने को कैसे सम्मत हो सकता है?

चेतना के तीन स्तर—ऐन्द्रियिक, मानसिक और बौद्धिक—हमारे प्रत्यक्ष हैं, किन्तु उसका अतीन्द्रिय स्तर हमारे प्रत्यक्ष नही है—इन्द्रिय, मन और बुद्धि से निर्मित व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष नही है। इसलिए मैं चेतना से अभिन्न होकर भी बहिश्चेतन और अन्तश्चेतन—इन दो रूपो मे विभक्त हू। मैं अमूर्त होकर भी दृश्य और अदृश्य—इन दो रूपो मे विभक्त हू। इस विभक्ति का अन्त दर्शन के द्वारा ही लब्ध हो सकता है।

दर्शन पारदर्शी या देशकालातीत प्रत्यक्ष-बोध है। वह बौद्धिक व्यायाम नही है, इसलिए वह वहा पहुचता है, जहा बुद्धि की पहुच नही है। प्रत्यक्ष मे कोई समस्या नही होती। सारी समस्याए परोक्ष की परिधि मे पल्लवित होती हैं। दर्शन की स्थापनाए इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अतीत हैं। इसीलिए उन्हे नकारने मे जो सहजानुभूति होती है, वह उन्हे हकारने मे नही होती। मनुष्य की स्वाभाविक बोधधारा और गतिक्रम की तुलना मे आप भारतीय दर्शन की बोधधारा और गतिक्रम को पढें, समस्याए परोक्ष की परिक्रमा करती हुई अपने आप आपके सामने आ जाएगी।

स्वाभाविक बोधधारा	दार्शनिक बोधधारा
१ दृश्य जगत् मे आस्था।	दृश्य की अपेक्षा अदृश्य जगत् मे आस्था।
२ वर्तमान जीवन मे आस्था।	वर्तमान जीवन की अपेक्षा शाश्वत जीवन मे आस्था।
३ बुद्धि की अन्तिम प्रामाणिकता।	दर्शन की अन्तिम प्रामाणिकता।
४ इन्द्रिय-दृष्ट-सत्य मे आस्था।	इन्द्रिय-दृष्ट की अपेक्षा अतीन्द्रिय-दृष्ट-सत्य मे आस्था।
५ मनोलब्ध-सत्य मे आस्था।	आत्म-लब्ध सत्य मे आस्था।

स्वाभाविक गतिक्रम	दार्शनिक गतिक्रम
१ विषय के प्रति अनुराग।	विषय के प्रति विराग।
२ अशाश्वत के प्रति अनुराग।	शाश्वत के प्रति अनुराग।

३	इच्छा-पूर्ति।	इच्छा-संयम।
४	बाह्य के प्रति विमुक्तता।	मनस् के प्रति विमुक्तता।
५	सामाजिकता।	वैयक्तिकता।

दर्शन के सुदूर अन्तरिक्ष मे प्रस्थान कर जो प्रश्न उपस्थित किए हैं, उन्हे मैं 'अह' की भाषा मे प्रस्तुत करूंगा और उनका उत्तर भी मैं 'अह' की भाषा में दूगा। इस धारा मे पाठक मेरे 'अह' को न पढें। वे पढ़ें कि मनुष्य के बौद्धिक व्यक्तित्व मे उनका दार्शनिक व्यक्तित्व कितना सूक्ष्म, कितना प्रभावी और कितना समर्थ है। शान्ति इसी अध्ययन की परिणति है।

आचार्यश्री तुलसी ने मेरी अन्तश्चेतना मे अध्यात्म का बीज-वपन किया था। वह दर्शन या प्रत्यक्षानुभूति के रूप मे पल्लवित हुआ है। इसी-लिए मैं श्रुत, चिन्तित या वितर्कित सत्य की अपेक्षा दृष्ट-सत्य को अधिक महत्त्व देता हू। अपनी अन्तर्-अनुभूति को जागृत करने मे जो कर्म-कौशल है, वह दूसरों की बात मानने और अपनी बात मनवाने मे नही है। जिस दिन हम मान्यता का स्थान दर्शन को उपहृत करेंगे, वह धर्म की महान् उपलब्धि का दिन होगा।

प्रस्तुत पुस्तक का कुछ अश मेरे वक्तव्यो पर आधृत है। 'मानसिक शान्ति के सोलह सूत्र'—इस माला का परिचालन मैंने अणुव्रत-शिविर (दिल्ली, १९६६) मे किया था। उसका सकलन मुनि श्रीचन्दजी ने किया है। अन्यत्र भी यत्र-तत्र उनका सकलन है। 'अणुव्रत के सन्दर्भ मे धर्म' विषय पर हुए वक्तव्यो के पुनर्लेखन मे मुझे मुनि श्रीचन्दजी तथा चन्दनमल 'चाद', एम० ए० के सक्षिप्त लेखाशो मे सहयोग मिला है। प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन मुनि दुलहराजजी ने किया है। मैं इन सबके प्रति हार्दिक सद्भावना अभिव्यक्त करता हू।

उदयपुर — मुनि नथमल

१८ मार्च, १९६८

अनुक्रम

मैं और मेरा मन

धर्म-क्रान्ति

मानसिक शान्ति के सोलह सूत्र

व्यक्तिगत साधना के आठ सूत्र

सामुदायिक साधना के आठ सूत्र

मैं और मेरा मन

१ : मै

मैं मुनि हू। आचार्यश्री तुलसी का वरद हस्त मुझे प्राप्त है। मेरा मुनि-धर्म जड क्रियाकाण्ड से अनुस्यूत नही है। मेरी आस्था उस मुनित्व मे है जो वुझी हुई ज्योति न हो। मेरी आस्था उस मुनित्व मे है, जहा आनद का सागर हिलोरें भर रहा हो। मेरी आस्था उस मुनित्व मे है, जहा शक्ति का स्रोत सतत प्रवाही हो।

मैं एक परम्परा का अनुगमन करता हू, किन्तु उसके गतिशील तत्त्वो को स्थितिशील नही मानता। मैं शास्त्रो से लाभान्वित होता हू, किन्तु उनका भार ढोने मे विश्वास नही करता।

मुझे जो दृष्टि प्राप्त हुई है, उसमे अतीत और वर्तमान का वियोग नही है, योग है। मुझे जो चेतना प्राप्त हुई है, वह तव-मम के भेद से प्रतिबद्ध नही है, मुक्त है। मुझे जो साधना मिली है, वह सत्य की पूजा नही करती शल्य-चिकित्सा करती है।

सत्य की निरकुश जिज्ञासा ही मेरा जीवन-धर्म है। वही मेर मुनित्व है। मैं उसे चादर की भाति ओढे हुए नही हू। वह वीज की भाि मेरे अन्तस्तल से अकुरित हो रहा है।

एक दिन भारतीय लोग प्रत्यक्षानुभूति की दिशा मे गतिशील थे। अब वह वेग अवरुद्ध हो गया है। आज का भारतीय मानस परोक्षानुभूति से प्रताडित है। वह वाहर से अर्थ का ऋण ही नही ले रहा है, चिन्तन का

ऋण भी ले रहा है। उसकी शक्तिहीनता का यह स्वत स्फूर्त साक्ष्य है। मेरी आदिम, मध्यम और अन्तिम आकाक्षा यही है कि मैं आज के भारत को परोक्षानुभूति की प्रताडना से बचाने और प्रत्यक्षानुभूति की ओर ले जाने मे अपना योग दू।

२ : मानसिक स्तर पर उभरते प्रश्न

रात की वेला थी। मैं बैठा था और मेरे सामने बिजली जल रही थी। उसका प्रवाह गया और घना अंधकार छा गया। दो पल मे फिर उसका प्रवाह आया और फिर प्रकाश हो गया। दस मिनट मे ऐसी तीन-चार आवृत्तिया हुई। मैंने सोचा, प्रकाश स्वाभाविक नही है, वह कृत्रिम है। स्वाभाविक है अंधकार। उसका न कोई शक्ति-स्रोत (पावर-हाउस) है और न ही उसके लिए कोई बटन दबाना होता है। हर कोई समझ सकता है कि वह कृत्रिम नही है। प्रकाश के लिए कितना चाहिए—बिजलीघर, विद्युत्-प्रवाह, प्रदीप आदि बहुत कुछ।

मैंने फिर सोचा, मनुष्य कैसा आग्रही है, जो स्वाभाविक है, उससे दूर भागता है और जो स्वाभाविक नही है, उसके लिए प्रयत्न करता है। क्षमा स्वाभाविक नही है। स्वाभाविक है क्रोध। प्रतिकूल वातावरण मे क्रोध सहज ही उभर आता है। क्षमा सहज ही प्राप्त नही होती। उसके लिए चिरकालीन अभ्यास करना होता है और अभ्यास करने पर भी अनगिन वार क्रोध क्षमा को पराजित कर देता है।

मैंने मन ही मन सोचा—मैं मुनि हू और मुनि होने के कारण उपदेष्टा भी हू। मैं जनता को सम्बोधित कर रहा हू कि वह क्षमा करे। मैंने क्षमा करने के लिए अनेक बार जनता को सम्बोधित किया है। क्रोध करने के लिए उसे कभी सम्बोधित नही किया। फिर भी वह जितनी बार और जितना

क्रोध करती है, उतनी बार और उतनी क्षमा नहीं करती तो फिर इसका क्या हेतु है कि मैं उसे क्षमा के लिए बार-बार सम्बोधित करूं?

मैंने देखा, एक आदमी बहुत डरता है। वह डर का वातावरण उपस्थित होने पर ही नहीं डरता किन्तु मानसिक कल्पना से भी डरता है। वह जीवित है। वास्तविक मौत उसकी नहीं हो रही है, फिर भी वह काल्पनिक मौत से डरता है और बहुत बार डरता है। मैंने उसे समझाया कि वह डरे नहीं। मौत एक दिन निश्चित है, डरेगा तो भी और न डरेगा तो भी। डर के बिना जो मौत आएगी, वह दुःखद नहीं होगी। जो डर के साथ आएगी, वह भयंकर होगी। इतना समझाने पर भी वह जितना भीरु है, उतना अभय नहीं है। इस परिस्थिति के संदर्भ में मैं फिर उसी रेखा पर पहुंचता हूं कि भय स्वाभाविक है, अभय स्वाभाविक नहीं है।

काल की लम्बी शृंखला में अनेक तत्त्वविद् हुए हैं। उन्होंने गाया है—'काम! मैं तेरा रूप जानता हूं। तू संकल्प से उत्पन्न होता है। मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूंगा, फिर तू मेरे मन की परिधि में कैसे आएगा?' किन्तु ऐसे गीत गाने वाले भी उससे अनेक बार पराजित हुए हैं। ब्रह्मचर्य के लिए जिस कठोर संयम की साधना है, उसे देख हर कोई इस निष्कर्ष पर पहुंच जाता है कि अब्रह्मचर्य स्वाभाविक है, ब्रह्मचर्य स्वाभाविक नहीं है।

मैं नहीं समझ सका—यह क्या है और क्यों है कि जिस वस्तु के प्रति सहज आकर्षण है, उसे हम हेय मान बैठे हैं और जिसके प्रति हमारा सहज आकर्षण नहीं है उसे उपादेय!

आकर्षण उस वस्तु के प्रति होता है, जिसकी आवश्यकता हमें अनुभूत होती है। अन्न और जल की आवश्यकता सहज अनुभूत है। दुनिया के किसी भी अंचल में कोई किसी को यह उपदेश नहीं देता कि तुम अन्न खाओ, जल पीओ; अन्न खाना और जल पीना जरूरी है। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो तुम्हें पश्चात्ताप करना होगा। 'मैं मोक्ष-शास्त्र कहता हूं कि तुम अन्न खाओ, जल पीओ, तुम्हें सुख मिलेगा।'—यह स्वर मैंने किसी को नहीं सुना। उपदेश की जरूरत क्या है? भूख लगती है तो वह अपने आप

रोटी खाता है। प्यास लगती है तो वह अपने आप पानी पीता है। भूख लगने पर न खाने से कष्ट होता है और खाने से सुख मिलता है। हर आदमी चाहता है कि कष्ट न हो, सुख मिले। इसलिए वह खाता है। खाने के प्रति इसीलिए आकर्षण है कि उसके बिना कष्ट होता है, घुटने टिक जाते हैं, काम नही चलता।

मैं आपसे पूछू—क्या आपको धर्म की आवश्यकता का अनुभव होता है ? क्या उसके बिना आपको कष्ट होता है ? घुटने टिक जाते हैं ? आपका काम नही चलता ? ऐसा अनुभव नही है। यदि उसकी आवश्यकता का प्रत्यक्ष अनुभव होता तो उसके लिए उपदेश देने की जरूरत नहीं होती। सौगध खा-खाकर धर्म की प्रशसा के पुल बाधने आवश्यक नही होते। ऐसा होता है, इसीलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि धर्म स्वाभाविक नही है। स्वाभाविक वह है जो शरीर की माग है। स्वाभाविक वह है जो मन की माग है। जीवन और क्या है ? देह और मन का सयोग ही जीवन है। जीवन की परिभाषा है, स्वाभाविक माग की पूर्ति। क्या धर्म जीवन की स्वाभाविक माग है ?

मैं देखता हू कि हजारो वर्षों से हजारो व्यक्तियो ने अस्वाभाविक को स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी वह पाषाण-रेखा मिट नही सकी। आज भी आहार, नींद और मैथुन के प्रति वही आकर्षण है, जो हजारो वर्ष पहले था। उपवास, जागरण और ब्रह्मचर्य से आज भी मनुष्य उतना ही कतराता है, जितना हजारो वर्ष पहले कतराता था। लडाई, घृणा और शोक उतने ही प्रिय है, जितने हजारो वर्ष पहले थे। शान्ति, प्रेम और प्रसन्नता से वह आज भी उतना ही दूर है, जितना हजारो वर्ष पहले था।

आप पूछेंगे—इन सूरज ने किया क्या ? वह प्रतिदिन नील नभ मे चमकता है, फिर भी अधकार है और वह वैसा ही है। यह प्रकृति द्वन्द्व को चाहती है। इसीलिए अधकार भी है और प्रकाश भी है। सूरज बेचारा क्या करे ?

आप पूछेंगे—इन औषधों ने क्या किया? जैसे-जैसे उनका प्रयोग बढ़ा है, वैसे-वैसे बीमारियां बढ़ी हैं। यह प्रकृति द्वन्द्व को चाहती है। इसीलिए बीमारियां भी हैं और औषध भी हैं। वैद्य बेचारा क्या करे?

३ स्वाभाविकता के सापेक्ष मूल्य

माझ की वेला थी। सूरज अभी आकाश पर था। अचानक बादल आए। आकाश-सहित सूरज आवृत हो गया। बूदें गिरने लगी। देखते-देखते धारा-सपात हो चला। बिजली कौंधी। ओले बरसने लगे। मैं देखता हू, सामने पेड पर एक बन्दर बैठा है। वह ठड के मारे ठिठुर रहा है। मैं तत्काल सुदूर अतीत की ओर लौट चला। मैंने सोचा, आज आदमी भी ऐसे ही ठिठुरता, यदि उसमे शून्य को भरने का चैतन्य और पौरुष नही होता। शून्य स्वाभाविक है। पर प्रबुद्ध मनुष्य ने उसे सदा चुनौती दी है और उसे भरा है। गगनचुम्बी अट्टालिकाओ का निर्माण प्रकृति पर मनुष्य की महान् विजय है।

मैंने देखा, चूल्हे मे आग जल रही है। दूध उबल रहा है। आच तेज हुई। दूध मे उफान आया। पास मे बैठी युवती ने जल के छींटे डाले। उफान शान्त हो गया। फिर उफान और फिर जल के छींटे—तीन-चार आवृत्तियो के बाद दूध का पात्र नीचे उतार लिया गया।

उबलते दूध का उफनना स्वाभाविक है। क्या स्वाभाविक को चुनौती दिए बिना मनुष्य का पौरुष प्रज्वलित नही होता? मैं मन ही मन सोच रहा था। न जाने किस अज्ञात दिशा ने मुखर स्वर मे कहा—हर पौरुष प्रकृति को चुनौती है। वह देकर ही मनुष्य दूध पी सकता है।

मैं ऊपर की दोनो घटनाओ के सदर्भ मे देखता हू—हमारी दृश्य-सृष्टि

मे स्वाभाविक वही है, जिसे पौरुष की चुनौती नही मिली है। उसके मिलते ही जो 'है' वह 'होता है' के आकार मे बदल जाता है। 'है' और 'होने' के बीच की जो दूरी है, वही पुरुष है। 'है' और 'होने' के बीच की दूरी को जो घटाता है, वही पौरुष है। मनुष्य 'है' की अपेक्षा 'होना है' को अधिक पसन्द करता है। इसीलिए उसका सनातन स्वर है—

'पुरुष! तू पराक्रम कर।'

मैं सागर के तट पर बैठा-बैठा अतल गहराई मे छिपी हुई उसकी आत्मा को निहार रहा था। मैंने देखा, उसी क्षण सामने की ओर से ऊर्मियां आयीं और मेरी छाया से टकराकर फिर असीम विस्तार की ओर लौट गईं। क्या मैं इसे स्वीकार करूं कि सागर मे ऊर्मियों का होना स्वाभाविक नही है? क्या यह स्वीकार सत्य के साथ आंख-मिचौनी जैसा नही होगा? क्या मैं उससे लाभान्वित होऊंगा? सागर का होना और ऊर्मियों का न होना वैसा ही असत् है, जैसाकि सूर्य का होना और दिन का न होना। क्या मैं इस तथ्य को स्वीकार करूं कि देह के सागर मे मन का जल हिलोरें भर रहा है, किन्तु उसमे काम, क्रोध और भय की ऊर्मियां नही हैं? क्या इस स्वीकार मात्र से मैं अध्यात्म की चोटी पर चढ़ जाऊंगा? मैं सचाई को अनावृत करने मे जो लाभ देखता हूं, वह आवृत करने मे नही देखता।

मैं कम्बल मे लिपटा हुआ कमरे के एक पार्श्व मे बैठा हूं। उसका एक दरवाजा खुला है। खिड़कियां बन्द हैं। बाहर की बर्फीली हवा से सारा वातावरण प्रकंपित हो रहा है। मैं समाचारपत्र मे पढ़ रहा हूं कि आर्कटिक महासागर जम गया है। मैं बैठा-बैठा देख रहा हूं कि उस बर्फीले सागर मे ऊर्मियां नही हैं। क्या मैं स्वीकार करूं कि यह सागर के स्वभाव का परिवर्तन नही है? क्या इस स्वीकार से मैं सत्य को अनावृत कर सकूंगा? सागर का सागर होना और ऊर्मियों का न होना वैसा ही सत् है जैसा कि सूर्य के अस्तित्व मे दिन का होना।

क्या मैं इस तथ्य को स्वीकार करूं कि देह के सागर का जल जम गया है, उसमे काम, क्रोध और भय की ऊर्मियां नही हैं? मन का जमना

होना और ऊर्मियो का न होना एक ही तथ्य की स्वीकृति की दो भाषा-पद्धतिया हैं। मन का जल केन्द्रीकरण की प्रक्रिया मे सघन हो जाता है और ऊर्मिया शान्त हो जाती हैं। मैं अभी केन्द्रीकरण की प्रक्रिया नही बता रहा हू, किन्तु यह बता रहा हू कि स्वाभाविक को बदल देना पुरुष का पौरुष है। इसीलिए यह सनातन-स्वर वायुमण्डल मे प्रतिध्वनित होता रहा है—

'पुरुष ! तू पराक्रम कर।'

पुरुष इसीलिए महान् है कि उसमे पौरुष है। पौरुष इसीलिए महान् है कि उसे स्वाभाविक मे परिवर्तन लाने की क्षमता प्राप्त है। प्रबुद्ध और पराक्रमी पुरुष जो 'है' उसी मे सन्तुष्ट नही होता, किन्तु जो 'होना है' उसी ओर गतिशील रहता है। यह गतिशीलता ही स्वाभाविक को अस्वाभाविक और अस्वाभाविक को स्वाभाविक बना देती है। स्वाभाविकता स्थिति-सापेक्ष अनुभूति है। उसका निरपेक्ष रूप हमारी प्रत्यक्षानुभूति मे नहीं है।

मैंने देखा, एक आदमी खुजला रहा है और लहूलुहान हो रहा है। मैंने उससे पूछा—घाव पड रहे है, फिर क्यो खुजलाते हो ? उसने सहज मुद्रा मे उत्तर दिया—खुजलाने मे बहुत आनन्द है। मैं उसके उत्तर से सहमत नही हो सका। मैं यह समझने मे असमर्थ रहा कि खुजलाने मे भी कोई आनन्द है। मैं फिर थोडे गहरे मे गया। मेरी बुद्धि ने स्वीकृति दे दी, वह ठीक कह रहा था। खुजलाने मे जो आनन्दानुभूति है, उसे वही जान सकता है, जो खुजली के कीटाणुओ से आक्रान्त है। मैं उन कीटाणुओ से मुक्त हू, इसलिए उसके आनन्द की भूमिका तक कैसे पहुच सकता हू ?

क्या अब्रह्म और ब्रह्म की स्थिति इससे भिन्न है ? अब्रह्मचर्य के कीटाणुओ से आक्रान्त व्यक्ति को भोग मे आनन्दानुभूति होती है, किन्तु उस व्यक्ति को नही होती, जो उन कीटाणुओ से अनाक्रान्त है।

मैं आपसे पूछता हू, क्या भूख लगने पर खाना सुख है ? मैं नही समझ सका, यह कोई सुख है। भूख एक बीमारी है। भूख क्या है ? जो जठराग्नि की पीडा है, वही भूख है। यह रोज की बीमारी है, इसलिए हम इसे

बीमारी नहीं मानते। जो पीड़ा कभी-कभी होती है, उसे हम बीमारी मान लेते हैं। मैं देख रहा हूं एक आदमी ज्वर से पीड़ित है। वह दवा ले रहा है। क्या दवा लेना भी कोई सुख है? यह सुख नहीं है, किन्तु रोग का प्रतिकार है। मैं इसी भाषा में दोहराना चाहता हूं कि रोटी खाना भी सुख नहीं है, किन्तु रोग का प्रतिकार है। यह सही है, सुख के प्रति मनुष्य का आकर्षण होता है। यह भी उतना ही सही है—बहुत बार मनुष्य असुख को भी सुख मान बैठता है।

जैसे-जैसे चैतन्य की अग्रिम भूमिकाएं विकसित होती हैं, वैसे-वैसे यह विपर्यय निरस्त होता चला जाता है। स्वाभाविक और सुख की मान्यताएं भी बदल जाती हैं। आकर्षण का केन्द्र भी कोई नया बन जाता है। वही शाश्वत स्वर फिर कानों में टकरा रहा है—

'पुरुष! तू पराक्रम कर।'

पराक्रम परिवर्तन की भूमिका में प्रस्फुटित होता है। परिवर्तन पदार्थ के धरातल पर ही नहीं होता, चैतन्य-जगत् में भी होता है। जो है, वही स्वाभाविक है, इस स्वीकृति का अर्थ होता है, विकास का अवरोध। विकास के क्रम में स्वाभाविकता के सापेक्ष मूल्य बदलते चले जाते हैं। मनुष्य ने इस क्रम को स्वीकृति दी, इसीलिए वह तात्कालिक आक्रमण से दीर्घकालीन समझौता-वार्तालाप तक पहुंच गया। वह चैतन्य जगत् में भी विकास की उस भूमिका तक पहुंच सकता है, जहां उसकी स्वाभाविकता को कोई दूसरी स्वाभाविकता चुनौती न दे सके। यही है उसका अस्तित्व-बोध, जो प्रत्यक्षानुभूति से सतत प्रवाहित होता रहा है।

४ : सत्य क्या है ?

तुम्हे इसका अचरज है कि मैं आत्मा को नही मानता। मुझे इसका अचरज है कि तुम आत्मा को नही जानते, फिर भी मानते हो कि वह है। क्या तुमने कभी देखा कि आत्मा है ? क्या देखे बिना कोई जान सकता है कि वह है ? जानता वही है, जो देखता है। जो जानता है, वह मानता नही और जो मानता है, वह जानता नही।

तुमने मान रखा है कि आत्मा है। इससे तुम्हे प्रकाश कब मिला? तुम्हें प्रकाश तब मिलता, जब तुम जान पाते कि आत्मा है।

मैंने मान रखा है कि आत्मा नही है। इससे मुझे अधकार कब मिला ? मुझे अधकार तब मिलता, जब मैं जान पाता कि आत्मा नही है। तुम भी मान रहे हो और मैं भी मान रहा हू। मानना आखिर मानना ही तो है। तो मैं तुम्हे एक कहानी सुनाऊ—

एक गृह-स्वामिनी ने अपने नौकर से कहा—जाओ, बाजार से घी ले आओ। वह बोला—मैं इस समय नही जा सकता। मुझे अधेरे मे डर लगता है। गृह-स्वामिनी बोली—तुम यह मान लो कि डर कुछ भी नही है। बेचारा चला। सीढियो से ही फिर लौट आया। गृह-स्वामिनी ने फिर वही उपाय बताया। वह फिर चला और फिर बीच मे से ही लौट आया। तीसरी बार फिर उपदेश मिला। वह सीढियो से नीचे उतरा और दो ही क्षणो मे भरा बर्तन ला गृह-स्वामिनी के सामने रख दिया। उसने पूछा—

बीमारी नही मानते। जो पीडा कभी-कभी होती है, उसे हम बीमारी मान लेते हैं। मैं देख रहा हू एक आदमी ज्वर से पीडित है। वह दवा ले रहा है। क्या दवा लेना भी कोई सुख है? यह सुख नही है, किन्तु रोग का प्रतिकार है। मैं इसी भाषा मे दोहराना चाहता हू कि रोटी खाना भी सुख नही है, किन्तु रोग का प्रतिकार है। यह सही है, सुख के प्रति मनुष्य का आकर्षण होता है। यह भी उतना ही सही है—बहुत बार मनुष्य असुख को भी सुख मान बैठता है।

जैसे-जैसे चैतन्य की अग्रिम भूमिकाए विकसित होती है, वैसे-वैसे वह विपर्यय निरस्त होता चला जाता है। स्वाभाविक और सुख की मान्यताए भी बदल जाती हैं। आकर्षण का केन्द्र भी कोई नया बन जाता है। वही शाश्वत स्वर फिर कानो से टकरा रहा है—

'पुरुष! तू पराक्रम कर।'

पराक्रम परिवर्तन की भूमिका मे प्रस्फुटित होता है। परिवर्तन पदार्थ के धरातल पर ही नही होता, चैतन्य-जगत् मे भी होता है। जो है, वही स्वाभाविक है, इस स्वीकृति का अर्थ होता है, विकास का अवरोध। विकास के क्रम मे स्वाभाविकता के सापेक्ष मूल्य बदलते चले जाते हैं। मनुष्य ने इस क्रम को स्वीकृति दी, इसीलिए वह तात्कालिक आक्रमण से दीर्घकालीन समझौता-वार्तालाप तक पहुच गया। वह चैतन्य जगत् मे भी विकास की उस भूमिका तक पहुच सकता है, जहा उसकी स्वाभाविकता को कोई दूसरी स्वाभाविकता चुनौती न दे सके। यही है उसका अस्तित्व-बोध, जो प्रत्यक्षानुभूति से सतत प्रवाहित होता रहा है।

इन्द्रिय की भाति मन भी सशय और विपर्यय के जाल मे फसा रहता है। क्या प्रशसा से पेट भरता है ? नही भरता, फिर भी आदमी उसके लिए खाली पेट रह जाता है।

गाली के प्रति गाली देने मे सुख की अनुभूति होती है। दूसरे को अपने से छोटा मानने मे सुख मिलता है।

समझे आप उनका तर्क ! इसी तर्क के सहारे वे कहते हैं कि इन्द्रिय और मन वास्तविक सत्य को नही जान सकते। इसी दृष्टि के आधार पर वे कहते आए हैं कि इन्द्रिय और मन का सुख वास्तविक नही है। पर मैं आपसे पूछू—क्या हमारे पास वास्तविकता की कोई कसौटी है ?

इन्द्रिय और मन के परे कोई वास्तविकता है तो होगी। हम उसे कैसे जानें ? हमारे पास उनके अतिरिक्त जानने का कोई साधन ही नही। जो साधन हैं, उन्हे भ्रान्त मानकर उनके निर्णय को मिथ्या मानें और जो साधन नही है, उस पर विश्वास करें, क्या यह भ्रान्ति नही है ?

क्या घी ले आए ? नौकर बोला—हा, ले आया। उसने सूघकर कहा —अरे ! घी कहा ? यह तो गधे का मूत्र है। नौकर बोला—तुम मान लो यह घी ही है। वह बोली—जो घी नही उसे मैं घी कैसे मान लू ? नौकर बोला—मुझे डर लगता है, तब मैं कैसे मान लू कि डर कुछ भी नही है ?

यह तर्क के प्रति तर्क है। मानने की दुनिया मे और है ही क्या ? तर्क के प्रति तर्क और फिर तर्क के प्रति तर्क और तब तक तर्क, जब तक मानना समाप्त न हो जाए। मैं मानता हू कि धर्म जीवन की स्वाभाविक माग नही है। तुम मानते हो कि वह जीवन की स्वाभाविक माग है। ये दोनो मान्यताए हैं। सत्य क्या है ? यह तुम भी नही जानते और मैं भी नही जानता।

मैं जब-जब जानने के साधनो के बारे मे सोचता हू तो मुझे लगता है कि हमारे दार्शनिक बहुत भ्रान्ति मे है। उनकी सत्य की कल्पना मृग-मरीचिका से अधिक अर्थवान् नही है। उन्होने कहा है—सत्य अतीन्द्रिय है। मैं आपसे कहू हमारे पास जानने के दो साधन हैं—

१ इन्द्रिय।

२ मन।

मैं नही समझ सका, फिर उन्होने यह किस ज्ञान से जाना कि सत्य इन्द्रिय और मन मे परे है। हमारे कुछ दार्शनिक इन्द्रिय और मन से ज्ञात होने वाले पदार्थो को मिथ्या मानते हैं और सत्य उसे मानते है, जो इनके द्वारा नही जाना जाता। उनका मानना है कि इन्द्रिय और मन का ज्ञान सशय और विपर्यय से युक्त होता है, इसलिए वह अभ्रान्त नही होता। आख का काम देखना है पर वातावरण धुधला हो या दूरी हो तो पता नही लगता, सामने वाला कौन है, खबा है या आदमी ? सीपी पर सूरज की किरणें पडती हैं, तब जान पडता है कि वह चादी है। कफ बढ जाता है, तब मीठी चीज़ भी कडवी लगती है और साप-काटे को नीम भी मीठा लगता है। हर इन्द्रिय का ज्ञान बाहरी वातावरण और परिस्थिति से इतना प्रभावित होता है कि उसमे वास्तविक सत्य जाना ही नही जा सकता।

खिडकी की जाली से छन-छनकर सूर्य की रश्मिया आ रही हैं। उनके आलोक मे मैं असख्य गतिशील रजकणो को देख रहा हू और देख रहा हू कि कुछ क्षण पूर्व ये उपलब्ध नही थे।

ध्वनि-ग्रहण का फीता घूम रहा है। मैं पूर्व-परिचित ध्वनि सुन रहा हू। कुछ क्षण पूर्व यह ध्वनि उपलब्ध नही थी।

सूक्ष्म जब स्थूल बनता है, आवृत जब अनावृत होता है और दूरस्थ जब निकटस्थ होता है, तब अव्यक्त व्यक्त और अनुपलब्ध उपलब्ध हो जाता है।

मैं प्रकाश मे देखता हू, वह धुधले मे नही देख पाता। सूक्ष्मवीक्षण से देखता हू, वह कोरी आख से नही देख पाता। यह तारतम्य मुझे उस कोटि तक ले जाता है कि मैं अनावृत ज्ञान से देख सकता हू, वह सूक्ष्मवीक्षण से नही देख सकता।

जहा तारतम्य है, वहा 'अतिमेत्थ' भी है। वही सत्य की उपलब्धि का अन्तिम साधन है। वही भारतीय दर्शन की भाषा मे अतीन्द्रिय ज्ञान है। उसकी भूमिका पर से ही यह कहा जाता है कि सत्य वही नही है, जो व्यक्त, स्थूल, अनावृत और निकटस्थ है। जो अव्यक्त, सूक्ष्म, आवृत और दूरस्थ है, वह भी सत्य है। मैं प्रतिभा की खिडकी को खोलकर झाकता हू, तब मेरे सामने सत्य आकाश की भाति अनन्त और असीम होता है। और जब मैं इन्द्रिय और मन के किवाडो से प्रतिभा की खिडकियो को बन्द कर झाकता हू, तब मेरे सामने सत्य बन्द कमरे की भाति शान्त और ससीम हो जाता है। उस बन्द कमरे मे, मैं मान्यता (परोक्षानुभूति) के वातवलय मे घिर जाता हू।

एक दिन मैं अपलक आकाश की ओर निहार रहा था। मेरी तात्त्विक मान्यता की भाषा ने मुझे स्मृति दिलाई, आकाश असीम है। उसी क्षण व्यावहारिक मान्यता की भाषा ने उसका प्रतिवाद किया, आकाश ससीम है। मैं द्विविधा मे फस गया। मेरे सामने प्रश्नचिह्न उभर गया, क्या आकाश असीम है या ससीम ? मैं लम्बे समय तक उस प्रश्नचिह्न को पढता

५ : सूक्ष्म की समस्या

सूर्य आकाश मे चमक रहा है। मैंने देखा, रात को असख्य नक्षत्र और तारे आकाश मे टिमटिमा रहे थे, किन्तु अव एक भी नही है। सारे दीप बुझ गए है। केवल एक सूर्य चमक रहा है। क्या यह सत्य है ?

एक सरसरी निगाह मे यह सत्य है, किन्तु गहराई मे यह सत्य नही है। यह है कि नक्षत्र और तारे सूर्य के प्रखर प्रकाश से आवृत हैं, अस्तित्वहीन नही हैं।

क्या कोई अस्तित्व कभी विनष्ट होता है ? क्या जो है, वह चिर-भविष्य मे नही होगा ? क्या जो है, वह चिर-अतीत मे नही था ? जो है, वह सदा था और सदा होगा। जो पहले नही था और आगे नही होगा वह आज भी नही हो सकता। मैं देख रहा हू, जो पेड पतझड मे नगा था, वह वसत मे लहलहा रहा है। जो वसत मे लहलहा रहा था, वह पतझड मे नगा है। नगा होना और लहलहाना पेड का अस्तित्व नही है। ये उसके अस्तित्व की अभिव्यक्तिया हैं। जीवन और मृत्यु हमारा अस्तित्व नही है। ये हमारे अस्तित्व की अभिव्यक्तिया हैं।

जो व्यक्त है, वह अस्तित्व नही है। वह अस्तित्व की ऊर्मि-माला है। अस्तित्व उसके नीचे है। इन्द्रिय और मन ऊर्मि-माला के माध्यम से ही अस्तित्व तक पहुच पाते हैं। इसीलिए उनकी स्वीकृति या अस्वीकृति प्रत्यक्षानुभूति की स्वीकृति या अस्वीकृति नही होती।

खिडकी की जाली से छन-छनकर सूर्य की रश्मिया आ रही हैं। उनके आलोक मे मैं असख्य गतिशील रजकणो को देख रहा हू और देख रहा हू कि कुछ क्षण पूर्व ये उपलब्ध नही थे।

ध्वनि-ग्रहण का फीता घूम रहा है। मैं पूर्व-परिचित ध्वनि सुन रहा हू। कुछ क्षण पूर्व यह ध्वनि उपलब्ध नही थी।

सूक्ष्म जब स्थूल बनता है, आवृत जब अनावृत होता है और दूरस्थ जब निकटस्थ होता है, तब अव्यक्त व्यक्त और अनुपलब्ध उपलब्ध हो जाता है।

मैं प्रकाश मे देखता हू, वह धुधले मे नही देख पाता। सूक्ष्मवीक्षण से देखता हू, वह कोरी आख से नही देख पाता। यह तारतम्य मुझे उस कोटि तक ले जाता है कि मैं अनावृत ज्ञान से देख सकता हू, वह सूक्ष्मवीक्षण मे नही देख सकता।

जहा तारतम्य है, वहा 'अतिमेत्य' भी है। वही सत्य की उपलब्धि का अन्तिम साधन है। वही भारतीय दर्शन की भाषा मे अतीन्द्रिय ज्ञान है। उसकी भूमिका पर से ही यह कहा जाता है कि सत्य वही नही है, जो व्यक्त, स्थूल, अनावृत और निकटस्थ है। जो अव्यक्त, सूक्ष्म, आवृत और दूरस्थ है, वह भी सत्य है। मैं प्रतिमा की खिडकी को खोलकर झाकता हू, तब मेरे सामने सत्य आकाश की भाति अनन्त और असीम होता है। और जब मैं इन्द्रिय और मन के किवाडो से प्रतिमा की खिडकियो को बन्द कर झाकता हू, तब मेरे सामने सत्य बन्द कमरे की भाति शान्त और ससीम हो जाता है। उस बन्द कमरे मे, मैं मान्यता (परोक्षानुभूति) के वातवलय से घिर जाता हू।

एक दिन मैं अपलक आकाश की ओर निहार रहा था। मेरी तात्त्विक मान्यता की भाषा ने मुझे स्मृति दिलाई, आकाश असीम है। उसी क्षण व्यावहारिक मान्यता की भाषा ने उसका प्रतिवाद किया, आकाश ससीम है। मैं द्विविधा मे फस गया। मेरे सामने प्रश्नचिह्न उभर गया, क्या आकाश असीम है या ससीम? मैं लम्बे समय तक उस प्रश्नचिह्न को पढता

रहा। अचानक खतरे का भोपू बज उठा। विमानवेधी तोपो ने गोलिया दागनी शुरू कर दी। शान्त वातावरण तुमुल मे बदल गया। यह सब क्यो हुआ, मैंने सहज ही जिज्ञासा की। मुझे उत्तर मिला, हमारी सीमा मे शत्रु के विमान घुस आए हैं। उन्हे ध्वस्त किया जा रहा है।

धरती की सीमा से हमारे पूर्वज परिचित थे। समुद्री सीमा से भी वे परिचित हो गए थे। धरती और समुद्र दोनो ससीम हैं। इसलिए उन्हे सीमा मे बाधना उनको स्वाभाविक लगा होगा। आकाश मे सीमा की कल्पना उन्होने नही की होगी। इस चिन्तन के अनन्तर ही मेरी दृष्टि न्यायशास्त्र की सीमा में जा अटकी। वहा मुझे घटाकाश, पटाकाश, गृहाकाश जैसे शब्द-विन्यास मिले। अब मैं इस तथ्य को अस्वीकार नही कर सका कि आकाश ससीम है।

मैं यदि तर्क-प्रबुद्ध होता तो इस सत्य की उपलब्धि से सतुष्ट हो जाता। किन्तु मैं देखना चाहता था, इसलिए इस उपलब्धि ने मुझे सन्तोष नही दिया। मैं दर्शन की भूमिका मे पहुच तर्क के वातवलय से मुक्त हो गया। वहा मुझे दिखा, आकाश असीम है। आकाश असीम है, यह उसका अस्तित्व है और मेरा दर्शन। आकाश ससीम है। यह अस्तित्व और ममत्व का योग है और मेरा शब्द-बोध है। मनुष्य ने जहा अस्तित्व को ममत्व मे आबद्ध किया है, वहा असीम सीमा मे बधा है। यह सीमाकरण मनुष्य की कृति है, आकाश का वास्तविक अस्तित्व नही है। घट है तब तक घटाकाश है। घट फूटा और घटाकाश विलीन हो गया। उसके साथ-साथ आकाश को ससीम मानने की मेरी बुद्धि भी विलीन हो गई। अब मुझे स्पष्ट दीख रहा है कि आकाश केवल आकाश है और वह सीमायुक्त नही है। उसे ससीम मानना ऊर्मि-माला से प्रतिफलित मान्यता है, अस्तित्व का वास्तविक बोध नही है।

आप पूछ सकते हैं, घटाकाश मान्यता कैसे है ? वह अपना काम कर रहा है—जल को टिकाए हुए है। हम मुक्त आकाश को घट मानें और उसमे जल डालें तो वह नीचे गिर जाएगा, कही टिकेगा नही। यह हमारी

मान्यता हो सकती है। किन्तु जिसमे जल टिका हुआ है, वह केवल मान्यता नही हो सकती।

मैं मान्यता के दो स्तर देख रहा हू—एक काल्पनिक और दूसरा परिवर्तन से समुत्पन्न। मुक्त आकाश मे घटाकाश का समारोपण मान्यता का काल्पनिक स्तर है। घटाकाश का वोध मान्यता का परिवर्तन से समुत्पन्न स्तर है। पहला स्तर वर्तमान आकार मे असत् है। दूसरा स्तर वर्तमान आकार मे सत् है। किन्तु वास्तविक अस्तित्व की मर्यादा यह है कि आकाश आकाश है और वह असीम है।

मैं देख रहा हू, एक चिडिया दर्पण पर चोच मार रही है। वह वस्तु-स्थिति से अनजान है। इसीलिए वह अपने प्रतिविम्व को अपना प्रतिपक्ष मान रही है। यदि वह जान पाती तो अपने प्रतिविम्व को अपना प्रतिपक्ष नही मानती।

रात का समय है। कोई मनुष्य दौडा जा रहा है। उसने देखा, उसके साथ-साथ कोई दूसरा व्यक्ति दौड रहा है। वह भयभीत हो मुडा। उसके साथ दूसरा व्यक्ति भी मुड गया। वह जिधर घूमा, उधर दूसरा भी घूम गया। वह भय से घिर गया। उसके पैर वही रुक गए। यदि वह जान पाता तो अपनी छाया मे भयाक्रान्त नही होता। चिडिया अपने प्रतिविम्व को अपना प्रतिपक्ष मानती है। उसमे अज्ञान का घना अधकार है। मनुष्य अपनी छाया मे डरता है, उसमे मोह का घना अधकार है।

दीवार के उस पार कोई वोल रहा है। मैं उसे पहचान लेता हू। उसमे परोक्षानुभूति का अधकार है।

मानने के नीचे वैसे ही अधकार होता है, जैसे दीपक के तल मे अधकार। जानना वैसे ही सर्वत प्रकाशमय होता है, जैसे सूर्य। सूर्य वादलो मे घिरा होता है, प्रकाश मद हो जाता है। ज्ञान आवरण और व्यवधान से घिरा होता है। जानना मानने मे वदल जाता है। सूर्य को मैं जानता हू किन्तु मानता नही हू। सुमेरु को मैं मानता हू किन्तु जानता नहीं हू। अस्तित्व के साथ मैं सीधा सम्पर्क स्थापित करता हू', वह मेरा जानना है—

प्रत्यक्षानुभूति है। अस्तित्व के साथ मैं किसी माध्यम मे सम्पर्क स्थापित करता हू, वह मेरा मानना है—परोक्षानुभूति है। प्रकाश जैसे-जैसे आवृत होता जाता है, वैसे-वैसे मैं जानने से मानने की ओर झुकता जाता हू। प्रकाश जैसे-जैसे अनावृत होता जाता है, वैसे-वैसे मैं मानने से जानने की ओर बढता जाता हू। मानने से जानने तक पहुचना भारतीय दर्शन का ध्येय है, और पहुच जाना अस्तित्व का प्रत्यक्ष-बोध है। मैं सूर्य को जानता हू, उससे सूर्य का अस्तित्व नही है। बीहड जगलो मे विकसित फूल को मैं नही जानता हू, उससे फूल का अनास्तित्व नही है। अस्तित्व अपनी गुणात्मक सत्ता है। वह न जानने-मानने से बनती है और न न-जानने-मानने से विघटित होती है। फूल की उपयोगिता मेरे जानने से निष्पन्न होती है और न जानने से विघटित हो जाती है। उपयोगिता मेरा और अस्तित्व का योग है। अस्तित्व दो का योग नही है किन्तु वह निरपेक्ष है। **'मैं हू'—यह निरपेक्ष अस्तित्व है**। दूसरे मुझे अनुभव करते है, इसलिए मैं नही हू किन्तु मैं हू, इसलिए मुझे दूसरे अनुभव करते हैं। मैं अपने आप मे अपना अनुभव करता हू, इसीलिए मैं हू।

६: बौद्धिक स्तर पर उभरते प्रश्न

मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा हू । मैं मानता था कि दर्शनशास्त्र को पढे विना मत्य को प्राप्त नही किया जा सकता । मैंने भारतीय दर्शन पढे । पश्चिमी दर्शनो का भी थोडा-बहुत अध्ययन किया । किन्तु अब मैं देखता हू तो मुझे लगता है कि उनमे दर्शन नही है, कोरा बुद्धिवाद का व्यायाम है । यह मचाई है, मनुष्य का मारा विकास बुद्धि पर अवलम्बित है । विज्ञान ने अकल्पित उन्नति की है । अन्तरिक्ष मे यान भेजे हैं । एक यान भूमि से अन्तरिक्ष मे उडता है और ठीक समय पर अन्तरिक्ष मे भूमि पर उतर आता है । क्या यह सचाई नही है ? विमान-वेधी तोपें सुदूर अन्तरिक्ष मे तैरते हुए विमान को मार गिराती हैं । चालक-विहीन विमान ठीक लक्ष्य पर बम बरसा जाते हैं । कितने उदाहरण उपस्थित करू ! बीसवी शताब्दी का कोई भी आदमी इम प्रत्यक्ष को आखें मूदकर अस्वीकार नही कर मकता । फिर भी हमारे दर्शनशास्त्री कहते हैं—जो दृश्य है, वह सत्य नही है, सत्य वह है जो अदृश्य है । जो बुद्धिगम्य है, वह मत्य नही है, सत्य वह है जो बुद्धि से परे है ।

बुद्धि कोई विचित्र नटी है । वह न जाने कितने रूप बदलना जानती है । सारी लीला उमकी है, फिर भी उसने अपने को पर्दे के पीछे रखकर किसी ऐसे ज्ञान की कल्पना की है, जिसका मनुष्य मे कोई सम्बन्ध ही नही है । मेरे मन की जिज्ञासा है, जिसने यह कहा कि जहा बुद्धि समाप्त होती

है, वहा वास्तविक ज्ञान का आरम्भ होता है, वह आदमी बुद्धिमान् है या बुद्धिशून्य ? यदि वह बुद्धिमान् है तो उसने जो कहा, वह अपनी बुद्धि से ही कहा है। यदि वह बुद्धिशून्य है तो उसने ऐसा किस आधार पर कहा ? यदि उसने सत्य का साक्षात् कर कहा है तो ऐसा वही कह सकता है, जिसने सत्य का साक्षात् किया है। हमे सत्य का साक्षात् नही है। हम वह बात किस आधार पर कह सकते है ? जिसने सत्य को बुद्धि से परे कहा, वह आत्म-दर्शी था, उसे सत्य का साक्षात् हुआ था—यह निर्णय हम किससे करते हैं ? आत्म-दर्शन हमारे पास नही है, जिससे हम इसकी सचाई को साक्षात् देख सकें। हम उसकी सचाई का निर्णय अपनी बुद्धि से करते हैं। इस प्रकार हम घूम-फिरकर बुद्धि के ही साम्राज्य मे पहुच जाते हैं। बुद्धि से प्राप्त सचाई वास्तविक सचाई नही है और बुद्धि से परे की सचाई वास्तविक है, इसका निर्णय बुद्धि करती है। अब हमारे सामने प्रश्न यह रहता है कि बुद्धि के इस निर्णय को हम वास्तविक मानें या अवास्तविक ?

मैं जब अपने शरीर की ओर निहारता हू तो तत्काल मेरे सस्कार बोल उठते हैं, यह पौद्गलिक है। मुझसे भिन्न है। मैं आत्मा हू, चेतन हू। यह अनात्मा है, अचेतन है। मैं अविनाशी हू, अजर-अमर हू। यह विनश्वर है, जरा-मरणधर्मा है। शरीर और आत्मा को भिन्न देखना ही सम्यग्-दर्शन है। यही विवेकख्याति है और यही मोक्ष का मार्ग है।

जब-जब यह सस्कार जागता है, तब-तब मैं रटता हू कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। किन्तु दूसरे सस्कार के जागते ही यह भूल जाता हू कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। जब कभी चिन्तन की मुद्रा मे होता हू, तब सोचता हू क्या शरीर से भिन्न कोई आत्मतत्त्व है ? यदि है तो उसका अस्तित्व कहा है ? यदि शरीर से बाहर है तो वह अगम्य है। शरीर से बाहर कभी कही कोई चेतना ज्ञात नही हुई है। यदि वह शरीर के भीतर ही है तो इसकी पुष्टि किससे होती है कि वह शरीर से भिन्न है। चेतन और अचेतन के मध्य ऐसी लक्ष्मण रेखा किसने खीची कि चेतन चेतन ही है और अचेतन अचेतन ही। अचेतन चेतन नही हो सकता और

चेतन अचेतन नही हो सकता, यह केवल तर्कशास्त्र का नियम है, या इससे कुछ अधिक भी है ? हमारे तत्त्वविदो ने कहा है—आत्मा रथिक है, शरीर रथ है। रथ के बारे मे हमे कोई सन्देह नही है। वह सबके सामने है। जितना सन्देह है वह सब रथिक के बारे मे है। जो कहते हैं कि रथिक है, उन्होंने भी नही देखा है कि वह है और जो कहते है कि रथिक नहीं है, उन्होंने भी नही देखा है कि वह नही है। जिसने यह प्रश्न खडा किया कि आत्मा है, तब उसके प्रतिपक्ष मे यह स्वर उठा कि वह नही है। बुद्धि की सीमा को अधिकृत करने के लिए आस्तिक और नास्तिक—दोनों सेनाएं आमने-सामने खडी हैं। दोनो के पास तर्क के तीखे तीर है। देखें अब क्या होता है ?

७ : मेरा अस्तित्व

मैं फ्लू से ग्रस्त था, इसलिए सो रहा था। छोटा गाव, छोटा मकान, मुक्त आकाश और मुक्त मन। सामने एक पेड था। उजली दुपहरी मे सब के सब चमक रहे थे। मैंने एक वार पेड की ओर दृष्टि डाली और दूसरी वार आकाश की ओर। विराट आकाश के सामने वह पेड वहुत छोटा लग रहा था। छोटा किन्तु अनन्त। आकाश क्षेत्र और काल दोनो दृष्टियो से अनन्त है, किन्तु काल की दृष्टि से पेड भी अनन्त है। उसका एक भी अणु कभी नष्ट होने वाला नही है। वह दर्शन के इस शाश्वत नियम से आवद्ध है—

"जो आज है वह अतीत मे था और भविष्य मे होगा। जो पहले नहीं था और पश्चात् नहीं होगा, वह आज भी नहीं हो सकता।"

आकाश और पेड को अपने अस्तित्व के वारे मे न सन्देह है और न निश्चय। फिर भी उनका अस्तित्व अनन्त और अवाध है।

मैंने सोचा, इस विश्व मे एक अणु भी ऐसा नही है कि जो आज है और कल नही होगा। तो फिर मैं अपने अस्तित्व के वारे मे कैसे सन्देह कर सकता हू ? क्या मैं विश्व-व्यवस्था के उस शाश्वत नियम का अपवाद हू? मैंने फिर सोचा, जव एक अणु भी उसका अपवाद नही है तव मैं उसका अपवाद कैसे हो सकता हू ? चिन्तन और आगे वढा तो मैंने सोचा, फिर मनुष्य ही ऐसा अभागा क्यो, जिसे अपने अस्तित्व मे सन्देह है ? मैंने देखा, मनुष्य की

चेतना पेड की चेतना से विकसित है, इसलिए उसे अपने अस्तित्व के बारे मे सन्देह होता है और उसकी चेतना योगी की चेतना की भाति विकसित नही है, इसलिए वह अपने अस्तित्व की अनन्तता का निश्चय नही कर पाता है। इस प्रकार वह सन्देह की पीठ पर चढकर भी निश्चय की चोटी तक नही पहुच पाता है।

इस दुनिया मे कुछ सत्य स्थूल हैं, कुछ सूक्ष्म और कुछ अमूर्त। मैं स्थूल सत्यो को स्थूल साधनो और सूक्ष्म सत्यो को सूक्ष्म साधनो से जान जाता हू, किन्तु अमूर्त (अरूप) सत्यो को जानने का मेरे पास कोई साधन नही है। एक आम मेरे सामने है। आख से उसे मैं देख लेता हू। जीभ से उसे चख लेता हू। घ्राण से उसकी गन्ध का अनुभव कर लेता हू। त्वचा से उसका स्पर्श-ज्ञान कर लेता हू। क्योकि वह स्थूल सत्य है। अणु सूक्ष्म सत्य है। उसे मैं अपनी आख, जीभ, घ्राण या त्वचा से नही देख पाता हू, किन्तु सूक्ष्म-वीक्षण के सहारे उसे भी देख लेता हू।

अमूर्त सत्य सूक्ष्म होने के साथ-साथ अरूप होते है, इसलिए उन्हे किसी सूक्ष्मवीक्षण के माध्यम से नही देखा जा सकता। अपने अस्तित्व के साक्षात्कार मे यही सबसे बडी कठिनाई है कि वह अरूप है। वह अरूप है, इसलिए इन्द्रिय-ग्राह्य नही है। वह इन्द्रिय-ग्राह्य नही है, इसलिए मेरे ज्ञान की परिधि से बाहर है। यदि मेरा अस्तित्व मुझसे सर्वथा भिन्न होता तो मैं उसे जानने के लिए केवल शब्दो का सहारा लेता। उन लोगो के शब्दो का, जो कहते हैं कि हमने अपने अस्तित्व का साक्षात् किया है। हजारो-हजारो व्यक्ति शब्दो के सहारे अपने अस्तित्व की शाश्वतता स्वीकार करते है और अशाश्वत शरीर को उस शाश्वत चित् तत्त्व का परिधान मात्र मानते है। मानने के लिए यह मैं भी मान सकता हू। किन्तु जब साक्षात् जानने के लिए उत्सुक होता हू तब मानने का सोपान नीचे रह जाता है।

इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शब्द—ये सब परोक्षानुभूति के माध्यम हैं। जानना प्रत्यक्षानुभूति है। वहा ये सब कृतकार्य नही होते। इस परिस्थिति मे अपने अस्तित्व की खोज से हताश हो जाता हू।

यदि मेरे अस्तित्व का प्रकाश इन्द्रिय, मन और बुद्धि मे प्रवाहित नहीं होता, इनकी सवेदन-शक्ति उससे विच्छिन्न होती तो मैं अपने प्रयत्न मे हताश ही हताश होता। किन्तु मेरे अस्तित्व का प्रकाश इन्द्रिय, मन और बुद्धि के माध्यम से बाह्य जगत् मे जाता है और फिर लौटकर अपने क्षेत्र मे आ जाता है। मैं बाह्य-दृष्टि हू, उसके बाहर जाने की प्रक्रिया से परिचित हू। मैं अन्तर्दृष्टि नही हू, उसके फिर अतस मे लौट आने की प्रक्रिया से परिचित नही हू। इसीलिए मैं अपने अस्तित्व से अपरिचित रहा हू।

एक दिन मेरे गुरु ने मुझे बताया कि चेतना का प्रवाह जिस मार्ग से बाहर को जाता है, उसे बन्द कर दो। मैंने वैसा किया तो पाया कि मैं अपने अस्तित्व के साक्षात् सम्पर्क मे हू। वहा अब 'मैं हू' (अहमस्मि) इस आकार मे नही रहा हू। किन्तु 'मैं है' (अहमस्ति) इस आकार मे बदल गया हू यानी मैं अपनी सत्ता से अभिन्न हो गया हू। अनुभव की इसी भूमिका मे मैंने बुद्धि के प्रामाण्य को अस्वीकार किया है, बुद्धि द्वारा प्रकल्पित, शरीर और आत्मा के अभेद या भेद को अस्वीकार किया है।

इस भूमिका से पूर्व जो शोध हो रही थी, वह बुद्धि-प्रेरित थी। बौद्धिक भूमिका मे मैं और चित् तत्त्व भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहे थे। मैं शोध करने वाला था और चित् तत्त्व था शोध्य। एक ही तत्त्व के शोध्य और शोधक—ये दो रूप नही हो सकते। बुद्धि ने मेरे और अस्तित्व के बीच मे व्यवधान डाल रखा था। जैसे ही मैंने चेतना के प्रवाह का बुद्धि के स्रोत से जाना निरुद्ध किया, वैसे ही मेरे और मेरे अस्तित्व के मध्य का व्यवधान समाप्त हो गया। अब मैं अपने अस्तित्व से भिन्न नही हू, इसलिए मेरा शोध्य-शोधक भाव भी समाप्त हो गया है।

मैं देखता हूं, प्राचीन साहित्य मे जो दीप जल रहा था, वह आज बुझने लगा है। आज दीप के आसन पर बल्ब आ बैठा है। जब लोग बिजली की शक्ति से अनजान थे, तब उनके आलोक का साधन दीप था। जब लोग बिजली से परिचित हुए, तब दीप का अवमूल्यन हो गया। मैं देखता हू, एक दिन बुद्धि का भी अवमूल्यन होने वाला है। हम अपनी सहज चेतना

की प्रकाश-धारा से अपरिचित है, इसलिए बुद्धि का प्रदीप हमे जगमगाता-सा लगता है। जैसे ही हम अपनी सहज चेतना से परिचित होगे कि बुद्धि का आसन हिल जाएगा।

बौद्धिक भूमिका मे परोक्ष को प्रत्यक्ष माना जा रहा है। इन्द्रियो मे प्रत्यक्षानुभूति की क्षमता नही है। उनका ग्रहण बहुत ही त्रुटिपूर्ण और बाह्य उपकरण सापेक्ष होता है। आख देखती है पर प्रकाश और अधकार, दूरी और निकटता आदि बाह्य उपकरण देखने मे बहुत परिवर्तन ला देते हैं। यही गति शेष सब इन्द्रियो की है। मन और बुद्धि भी इसी नियम से नियन्त्रित है। यथार्थ का दर्शन इन्द्रियो से नही, किन्तु माध्यम-निरपेक्ष चेतना से होता है। मेरी अनुभूति के क्षेत्र मे वही प्रत्यक्षानुभूति है। वहा परोक्षानुभूति से उत्पन्न मान्यताए समाप्त हो जाती है। काल का प्रतिबन्ध भी टूट जाता है। उस कालातीत स्थिति के सदर्भ मे मैं वर्तमान से विमुख और भविष्य के सम्मुख नही होता हू। फिर मैं केवल होता हू और जैसा वर्तमान क्षण मे होता हू, वैसा ही भविष्यत् क्षण मे होता हू, और जैसा भविष्यत् क्षण मे होता हू, वैसा ही वर्तमान क्षण मे होता हू। और फिर मैं वर्तमान क्षण के विसर्जन मे भविष्यत् क्षण का सवर्धन करने की स्थिति मे नही होता हू। किन्तु हर क्षण को अपनी सत्ता के अनुरूप बदलते पाता हू। और देखता हू कि मैं हर क्षण के साथ सामजस्य स्थापित करता हुआ अपने अस्तित्व को गतिशील कर रहा हू।

८ : ऐन्द्रियिक स्तर पर उभरते प्रश्न

मैंने बचपन मे एक छोटा-सा ग्रथ पढा। उसका नाम 'तेरह द्वार' है। उसमे एक जगह लिखा है—मनुष्य खाता-पीता है, वह पुद्‌गल है। पहनता-ओढता है, वह पुद्‌गल है। देखता-सुनता है, वह पुद्‌गल है। जितना दृश्य है, वह सारा पुद्‌गल है। जितना भोग्य है, वह सारा पुद्‌गल है। जो द्रष्टा है और भोक्ता है, वह आत्मा है।

मैंने अध्ययन की भूमिका को जरा विस्तार दिया तो जाना कि आत्मा न खाता है, न पीता है। वह न पहनता है, न ओढता है। वह न देखता है और न सुनता है।

शरीर बेचारा जड है। वह क्या खाए-पीएगा ? क्या पहने-ओढेगा ? और क्या देखे-सुनेगा ?

आखिर यह है क्या ? वह कौन है, जो सारी क्रियाए करता है ? इस जिज्ञासा के समाधान मे दर्शनशास्त्री कहते हैं, वह जीवच्छरीर है—न जीव और न शरीर, किन्तु जीव-युक्त शरीर।

इतनी जटिल प्रक्रिया को इसलिए मानना पडा कि उन्होने जीव को माना है और एक जीव को माना इसलिए न जाने कितना मानना पडा—पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, ईश्वर, कर्म, बन्ध, मोक्ष आदि-आदि। मनुष्य इन मान्यताओ से इतना घिर गया है कि उसने अपने वर्तमान को भविष्य के हाथ मे सौंप दिया है, अपने प्रत्यक्ष को परोक्ष की कारा का बन्दी बना

दिया है और अपनी अनुभूति को कल्पना के पख लगा अनन्त अज्ञात की ओर प्रस्थित कर दिया है। पता नही सचाई किसे वरमाला पहनाएगी ?

वीते युग की वात है। एक सेठ का पुत्र मुनि वनने की धुन मे था। उसका नाम था जम्बूकुमार। उसने पहले दिन आठ कुमारियो के साथ विवाह किया और दूसरे दिन मुनि वनने लगा। रात को आठो पत्नियो के साथ चर्चा हुई। उसी प्रसग मे एक पत्नी ने कहा—प्रिये ! आप प्राप्त सुखो को छोडकर काल्पनिक सुख की खोज मे जा रहे हैं। यह भूल-भरा चरण है। मेरी वात याद रखिए, आगे आपको पछतावा करना होगा। मैं आपको एक कहानी सुनाऊ—

पुराने ज़माने की वात है। मारवाड का एक किसान एक वार मेवाड जा पहुचा। उसने गन्ने का रस पिया। गुड खाया, चीनी खायी और चीनी से वनी हुई चीजें खायी। उसने सोचा—जहा गन्ने होते है, वह ससार कितना मधुर होता है ? वजरी और गन्ने की कोई तुलना नही है। उसने गन्ने का वीज खरीदा और वह अपने गाव चला आया। घरवालो को एकत्र कर अपने मन की वात कही। उन्होने कहा—यह फसल पकने को है, पहले इसे काट लें, फिर गन्ना वो लेंगे। वह अपनी वात पर अडा रहा। सारी सुनी-अनसुनी कर दी। पाकानन्न फसल कट गई। गन्ने की वुआई हो गई। पानी कम था। सिंचाई पूरी हुई नही। गन्ने की वुआई व्यर्थ ? खडी फसल को काटनेवाले किसान के लिए शेष वचा पछतावा। वैसे ही वर्तमान को छोड आगे के लिए दौडनेवालो के लिए शेष वचता है पछतावा।

९ : सुख की जिज्ञासा

मेरी आखो के सामने नारियल का एक पेड है। एक सीधा-सा तना, कुछ पत्ते और कुछ नारियल। वस, इतना-सा दिखाई दे रहा है नारियल का पेड। जो दृश्य है वही नारियल का पेड है या इसमे कुछ अदृश्य भी है ? वह वीज दृश्य नही है, जो पेड का घटक है। वह शक्ति भी दृश्य नही है, जो पेड के रूप मे अपना अस्तित्व वनाए हुए है और जिसके द्वारा लिया जा रहा है आहार और श्वास।

हमारी इन्द्रियो की सीमा दृश्य जगत् है। वे अदृश्य जगत् का प्रतिपादन नही कर सकती, क्योकि वह उन्हे ज्ञात नही है। वे उसका निरसन भी नही कर सकती क्योकि अज्ञात का निरसन नही किया जा सकता।

दृश्यता और अदृश्यता सापेक्ष है। मैं अव आगे वढ गया हू। वह पेड मुझे नही दीख रहा है। दीवार का व्यवधान हो गया है। व्यवहित होने पर दृश्य भी इन्द्रियो के लिए अदृश्य वन जाता है। मैं अव समतल भूमि पर चल रहा हू। फिर भी मुझे वह पेड नही दीख रहा है, क्योकि अव मैं उससे वहुत दूर हो गया हू। वहुत दूरी होने पर दृश्य भी इन्द्रियो के लिए अदृश्य वन जाता है। जो अणु सूक्ष्मवीक्षण से दिखाई देते हैं, वे कोरी आखो से नही दीखते। मैं जो देखता हू, वह स्थूल सृष्टि है। मैं जिसके द्वारा देखता हू, वह स्थूल दृष्टि है। सूक्ष्म सत्य को वही दृष्टि पकड सकती है जो सूक्ष्म के साथ सम्पर्क स्थापित कर सके और सूक्ष्म पर आए हुए स्थूल

के आवरण को हटा सके।

मैं चित् को पेड की भांति नहीं देख पा रहा हूं क्योंकि वह अमूर्त है। पेड मुझसे व्यवहित हो सकता है, दूर हो सकता है, किन्तु चित् मुझसे व्यवहित और दूर नहीं हो सकता, क्योंकि मैं अर्थात् चित् का व्यक्त रूप चित् और परमाणु का सम्पर्क-सेतु हूं।

न चित् को भूख लगती है, न परमाणु को भूख लगती है। भूख मुझे लगती है। न चित् खाता है न परमाणु खाता है। मैं खाता हूं क्योंकि मैं चित् और परमाणु के संधि-स्थल मे हूं। न चित बोलता है और न परमाण बोलता है। मैं बोलता हू, क्योंकि मै चित् और परमाणु के संधि-स्थल मे हूं।

यह दृश्य जगत् चित् और परमाणु का संधि-स्थल है। सुख और दुःख इसी मे है।

शुद्ध चित् मे न सुख है और न दुःख। वहा केवल अस्तित्व की अनुभूति है। उसे आप चाहे तो आनन्द कहें या न कहे।

शुद्ध चित् मे न बन्धन है और न मुक्ति। वहा केवल अस्तित्व की अनुभूति है। उसे आप चाहे तो मुक्ति कहे या न कहे।

शुद्ध चित् न परतंत्र है और न स्वतंत्र। वहा केवल अस्तित्व की अनुभूति है। उसे आप चाहे तो स्वतंत्र कहे या न कहे।

संधि-स्थल मे अवस्थित चित् सुख-दुःख, बंधन और परतंत्रता से बाधित होती है, इसलिए शुद्ध अस्तित्व की उपलब्धि होने पर पूर्वापेक्षा से कहा जाता है—वह आनन्दमय है, मुक्त है, स्वतंत्र है। वह अपने अस्तित्व के पूर्णोदय मे है और असीम, अनन्त तथा अनाबाध आनन्द की अनुभूति मे है। इस अनुभूति का धरातल ऐन्द्रियिक अनुभूति के धरातल से ऊंचा है, इसीलिए जिसे यह दृष्टि प्राप्त होती है, वह ऐन्द्रियिक धरातल से उठकर इस धरातल पर आना चाहता है।

भावी सुख के लिए वर्तमान सुख को छोडना कल गड्ढे मे गिरने के लिए आज गड्ढे से निकलने जैसा है।

इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा, "बहुत आश्चर्य है कि तुम अप्राप्त काम-भोगो की प्राप्ति के लिए प्राप्त काम-भोगो को ठुकरा रहे हो ? विद्यमान को ठुकराकर अविद्यमान का सकल्प कर हत-प्रहत हो रहे हो ?"

नमि राजर्षि ने कहा, "इन्द्र ! तुम्हारी प्रज्ञा सम्यक् नही है। ये काम-भोग शल्य हैं। इनका घाव कभी भरा नही जा सकता। जो व्यक्ति काम-भोगो की प्रार्थना करता है, वह कामना के भवरजाल मे फस जाता है। मैं उस जाल से मुक्त होने के लिए काम-भोगो को त्याग रहा हू।"

भृगु ने अपने पुत्रो से कहा था, "पुत्रो ! वैभव, परिवार, पत्नी और काम-भोग, जिनके लिए तप तपा जाता है, वे सब तुम्हे प्राप्त है, फिर तुम किसलिए इन्हे छोडना चाहते हो ?"

भृगु-पुत्र बोले, "पिता ! जो इनसे प्राप्त नही होता, उसी की प्राप्ति के लिए इन्हे छोडना चाहते हैं।"

इन्द्रिय-सुख इतना सहज, इतना स्वाभाविक और इतना प्रिय है कि साधारण आदमी उसे त्यागने का स्वप्न भी नही ले सकता। उसे त्यागने की कल्पना वही आदमी कर सकता है, जिसे अपने अस्तित्व की विशुद्ध भूमिका की उपलब्धि का तीव्र अनुराग हुआ है।

जिस दिन मनुष्य को अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति हुई, उस दिन उसने सुख के स्तर और उनका तारतम्य निश्चित किया। ऐन्द्रियिक सुख का स्तर अतीन्द्रिय सुख के स्तर की तुलना मे निम्न है। निम्नता के तीन हेतु हैं—

१ वह अनैकान्तिक है।

२ वह साबाध है।

३ वह अनात्यन्तिक है।

अतीन्द्रिय सुख ऐकान्तिक, निर्बाध और आत्यन्तिक है, इसलिए वह अधिक विश्वसनीय है। ऐन्द्रियिक सुख का सम्बन्ध भौतिक उपकरणो से

है, इसलिए वह स्पष्ट और सहज प्रतीत होता है। अतीन्द्रिय सुख अन्तर्-दर्शन से सम्बन्धित है, इसलिए वह सहज होने पर भी असहज-सा प्रतीत होता है। सहज को असहज और असहज को सहज मानने की दृष्टि बदलने पर सुख की कल्पना बदल जाती है।

१० मन की चंचलता का प्रश्न

जिसका मन शिक्षित नही है, वह धार्मिक भी नही है। धार्मिक वही है, जिसका मन शिक्षित है। मन शिक्षित नही है और वह धार्मिक है, यह विरोधाभास या आत्मभ्रान्ति है।

धर्म के विद्यालय का पहला पाठ है—मन को शिक्षित करना। यह सरल होते हुए भी कठिन हो रहा है। माला फेरते-फेरते मनके घिस गए है और अगुलिया भी घिस गई हैं, फिर भी यह प्रश्न समाहित नही हुआ कि मन स्थिर कैसे हो ? जो प्रश्न पचास वर्ष पहले था, आज भी वह उसी रूप मे खडा है। प्रक्रिया की ओर ध्यान न देने पर आज भी यह प्रश्न समाहित नही होगा।

धर्म की पहली सीढी है—मन पर विजय पाना। केशी ने गौतम से पूछा—शत्रुओ को आपने कैसे जीता ? अपने आपको आपने कैसे जीता ? उत्तर मे गौतम ने कहा—

'एगे जिया जिया पच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह ॥'

'मन को जीता और चार कषायों पर विजय पा ली। इन पाच को जीतने से पाच इन्द्रिया भी विजित हो गईं। इस प्रक्रिया से सारे शत्रुओं पर मैंने विजय पा ली अर्थात अपने आप पर विजय पा ली।'

जो मन को जीतना नही जानता, वह कषायो और इन्द्रियो पर विजय

नही पा सकता। जो कषायो और इन्द्रियों को नही जीतता वह धार्मिक भी नही हो सकता, क्रियाकाण्डी हो सकता है।

मन क्या है और उसकी चचलता क्या है? इस पर ध्यान दें। बच्चा रोता है, तब मा हौआ का भय दिखाती है। बच्चा चुप हो जाता है। वैसे ही मन की चचलता कहीं हौआ तो नही है? मन क्या है? मन हमारी चेतना का ही एक द्वार है। चेतना अनन्त है। उसका एक द्वार मन है। उसे चचल मानना हमारी भूल है। उसमे चचलता का आरोपण किया गया है। युद्ध मे लडने वाले सैनिक होते हैं। जीत होने पर विजय का श्रेय सेनापति को मिलता है और पराजय होने पर अपयश भी उसी का होता है। आरोपण की प्रक्रिया मे एक का श्रेय-अश्रेय दूसरे को मिलता है। भलाई और बुराई दोनो का आरोपण किया जाता है।

मन चचल नही है। चचल है श्वास और चचल है शरीर। जब तक शरीर की चचलता को छोडने का अभ्यास नही होगा और जब तक श्वास के विषय मे हमारा ज्ञान गम्भीर नही होगा, तब तक हम इसी भाषा मे सोचेंगे कि मन चचल है। जिस दिन शरीर, वाणी और श्वास की स्थिरता सध जाएगा, उस दिन हमे ज्ञात होगा कि मन चचल नही है।

११ मनोविकास की भूमिकाएं

मन हमारी चेतना का एक बिन्दु है। हमारी प्रवृत्ति, या निवृत्ति, हर कार्य मे मन का योग रहता है। मन को जानना एक अर्थ मे स्वय को जानना है। मन की गतिविधि से अवगत रहना जागरूकता का लक्षण है। मन से परिचय मिल जाने से व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है।

मन फीता नही है जिसे खीचकर बढाया जा सके और उसका विकास किया जा सके। मन की क्षमता, योग्यता और कार्य-सम्पादन की पद्धति मे विकास किया जा सकता है, यदि उससे परिचित हो लिया जाए। अज्ञान के कारण मन को नही जान पाते हैं।

मन इन्द्रिय और आत्म-चेतना के मध्यवर्ती है। इन्द्रियो का सम्पर्क बाहरी जगत् से है और चेतना का केन्द्र अन्तर्जगत् है। मन दोनो (इन्द्रिय और चेतना) के द्वारा प्राप्त का विश्लेषण करने वाला या भोग करने वाला है।

मनोविज्ञान मानसिक विकास के दो साधन मानता है—वशानुक्रम और वातावरण। पहला साधन स्वाभाविक क्षमता या प्राकृतिक देन है। दूसरा अभ्यास से होता है।

कवि भी दो प्रकार के होते हैं—प्रातिभ और अभ्यास निष्पन्न। काव्य के क्षेत्र मे हम देखते है आठ-दस वर्ष की अवस्था मे भी कोई महान् कवि बन जाता है। दूसरे अभ्यास के पथ पर चलते-चलते महान् बनते हैं।

हर क्षेत्र की यही स्थिति है। कृष्ण से पूछा गया—मन का निग्रह कैसे किया जाए ? उत्तर मिला—

'असशय महाबाहो, मनो दुर्निग्रह चलम्।
अभ्यासेन च कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥'

अभ्यास कृत होता है, अर्जित नही। वैराग्य स्वाभाविक होता है, कृत नहीं। । योग के आचार्य पतजलि ने भी यही कहा है—'अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध होता है।' अभ्यास करते-करते निरोध की अन्तिम सीढी तक पहुचा जा सकता है। अभ्यास से लब्ध नही होता तो पुरुषार्थ निष्फल हो जाता। अभ्यास से जो कल नही थे, आज बन सकते है।

मन का विकास कैसे हो ? इस प्रश्न पर आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रकाश डाला है। उन्होने इसके लिए चार भूमिकाओ का उल्लेख किया है

१. विक्षिप्त, २ यातायात, ३ श्लिष्ट, ४. सुलीन।

उन्होंने योगशास्त्र मे अतिम अध्याय को छोडकर पूर्व के सभी अध्यायो मे परम्परागत (सैद्धातिक) ध्यान के विषय का सुन्दर प्रतिपादन किया है। अतिम अध्याय मे वे अपनी अनुभूतिया कहते हैं। अनुभूतियो मे मार्मिकता है, आत्मा का स्पर्श है। कही-कही पर उनमे इतनी वेधकता आयी है, जितनी अन्यत्र कम है।

विक्षेप

यह पहली भूमिका है। इसमे साधक ध्यान करना प्रारम्भ करता है और मन को जानने का प्रयत्न करता है। तब अनुभव करता है कि मन चचल है। दिल्ली मे जब साधना-शिविर चल रहा था उनमे एक भाई ने प्रश्न किया था—ध्यान नही करता हू तब मन स्थिर रहता है, ध्यान मे मन अधिक चचल हो जाता है, यह क्यो ?

मैंने कहा—ध्यान नही करने थे उस समय मन स्थिर था, यह भ्रान्ति

है। अकन मे भूल है। ध्यान करने की स्थिति मे आए तब अनुभव हुआ मन चचल होता है। गाव के बाहर अकुरडी है। हजारो उस पर चलते हैं, पर दुर्गन्ध की अनुभूति नही होती। उसकी सफाई के लिए कुरेदने पर बदबू भभक उठती है। क्या पहले दुर्गन्ध आती थी? नही, जमा हुआ ढेर था, दुर्गन्ध दबी हुई थी। मन की भी यही प्रक्रिया है। मन मे विचारो के, मान्यताओ के और धारणाओ के सस्कार जमे पडे हैं। अनुभव नही होता कि मन चचल है। जब मन को साधने का प्रयत्न करते हैं तब उसकी चचलता समझने का अवसर मिलता है।

बहुत लोगो का कहना है कि माला जपते समय मन की चचलता बढती है, तब फिर माला जपने से क्या लाभ है? सामायिक मे घरेलू काम अधिक याद आते हैं, इसका कारण क्या है? चमार से पूछा गया—क्या तुम्हें चमडे की दुर्गन्ध आती है? उत्तर मिला—नही। बात भी सत्य है। यदि चमार को दुर्गन्ध की अनुभूति होने लग जाए तो उसका जीना दूभर बन जाए। राजा को दुर्गन्ध आ सकती है, पर चमार को नही। चचलता के वातावरण मे रहने से चचलता की अनुभूति नही होती। दूसरी भूमिका मे जाने से चचलता की अनुभूति होती है।

यातायात

जो चचलता आती है वह बुराई नही है, विकास की ओर प्रयाण का पहला शुभ शकुन है। चचलता का विस्फोट या उभार आए तो भी घबराए नही, अन्तिम दिनो मे स्थिरता की अनुभूति होने लगेगी। दीया बुझता है, उस समय अधिक टिमटिमाता है। चीटी के पख आने का अर्थ है मृत्यु की निकटता।

विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहस से कहा—'गुरुदेव! वासना का इतना उभार आ रहा है कि मैं अपने को सभालने में अक्षम हू।'

गुरु ने उत्तर दिया—'बहुत अच्छा है।'

विवेकानन्द—'अच्छा कैसे है, जबकि मन चचल हो रहा है?'

परमहस—'तुम्हारी वासना मिट रही है। जो जमा पडा हुआ था वह निकल रहा है। ध्यान मे चचलता आए उसे छोड दो, दबाने का यत्न मत करो।'

निवारित बहु चचल भवति,
अनिवारित स्वयमेव शातिमेती।'

रोकने का प्रयत्न मत करो। तुम देखते रहो वह कितना तेज दौड रहा है? तीव्र गति मे दौडनेवाली मोटर को ब्रेक लगाने मे क्या होगा? १०५ डिग्री बुखार को एक साथ उतारने मे खतरा ही होता है। मन की गति को मत रोको। मन को खुला छोड दो। बच्चे को बाधने से न आप काम कर सकेंगे और न वह टिक सकेगा। बच्चे को खुला छोडने से आप भी काम कर सकेंगे, जरा-सा ध्यान रखें। मन को न रोकने से आप देखेंगे, कभी वह चचल है तो कभी शान्त। यातायात की भूमिका मे मन कभी स्थिर रहता है और कभी चचल।

श्लिष्ट

श्लिष्ट यानी चिपकना। मन को ध्येय के साथ चिपकाना यानी उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करना। अभ्यास करते-करते मन इस भूमिका पर आ जाता है।

सुलीन

सुलीन का अर्थ है—ध्येय मे लीन हो जाना। जैसे दूध मे चीनी घुल जाती है। घुलने से चीनी का अस्तित्व समाप्त नही होता अपितु उसमे विलीन हो जाता है। दूध मे मिठास चीनी का अस्तित्व बताता है। इस भूमिका मे मन ध्येय मे लीन हो जाता है, मन को ध्येय से भिन्न नही कर सकते। योग की भाषा मे आचार्यों ने इसे समरसी भाव और समापत्ति कहा है। जहा ध्येय और ध्याता की एकात्मकता सध जाती है वह सुलीन भूमिका है। पातजलि ने इसका कुछ भिन्नता से प्रतिपादन किया है।

विक्षेप मे मन का उतार-चढाव रहता है, वहा आनन्द नही है। यातायात मे एक प्रकार के थोडे-से आनन्द का अनुभव होता है जो भौतिकता मे नही मिलता। श्लिष्ट मे बहु-आनन्द मिलता है। सुलीन की भूमिका में बहुतर यानी परमानन्द की अनुभूति होती है।

कुछ लोग पदार्थों मे सुख और आनन्द की कल्पना करते है। वास्तव मे पदार्थ के बिना जो आत्मा मे आनन्द की अनुभूति होती है वह पदार्थों से नही होती।

गत वर्ष एक लेख पढा था जिसमे लिखा था कि शरीर मे दो ग्रन्थिया सटी हुई हैं—एक सुख की और एक दु ख की। सुख की ग्रन्थि को उत्तेजित करने पर अखण्ड सुख की अनुभूति होने लगती है। वाह्य परिस्थिति या दु ख उत्पन्न करने पर भी उसे दु ख की अनुभूति नही होती। दु ख की ग्रन्थि खुलने पर चारो ओर उसे दु ख ही दु ख दिखाई देता है।

हमारी साधना के द्वारा सुख की ग्रन्थि आहत हो जाती है। एक व्यक्ति ने बताया कि जब मैं ध्यान करने बैठता हू तो दो दिन तक बैठा रहता हू। किसी स्थिति के कारण बीच मे छोडना पडता है तो दु ख होता है। चोट-सी लगती है।

खाने मे आनन्द आ सकता है पर बिना खाए-पीए भी आनन्द आ सकता है, यह कल्पना करना भी कठिन है। अन्तर् हृदय मे आनन्द का सागर हिलोरें ले रहा है, लेकिन अज्ञान के कारण हम वचित रह जाते हैं।

१२ : व्यक्ति और समाज

मेरे सामने एक पेड है और एक पत्र है, एक जलाशय है और एक मछली है, एक जलराशि है और एक जलकण है। पत्र पेड से उत्पन्न हुआ है और उससे अलग होकर वह जी नहीं सकता। अतः उसका अस्तित्व पेड से भिन्न नहीं है। मछली जल से उत्पन्न नहीं है, किन्तु वह जल के बिना जी नहीं सकती, अतः उसका अस्तित्व जल से भिन्न नहीं है। जलकण जलराशि से उत्पन्न नहीं है, किन्तु वह जलराशि से विलग टिक नहीं सकता, अतः उसका अस्तित्व जलराशि से भिन्न नहीं है। पेड और पत्र का सम्बन्ध समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध नहीं हो सकता। पत्रों के समूह से पेड नहीं बनता किन्तु पत्र पेड से उत्पन्न होते हैं। समाज व्यक्तियों के समूह से बनता है, किन्तु व्यक्ति समाज से उत्पन्न नहीं होते। मछली का कर्मक्षेत्र जलाशय है। व्यक्ति का कर्मक्षेत्र समाज है। जलकण का विस्तार-क्षेत्र जलराशि है। व्यक्ति का विस्तार-क्षेत्र समाज है। मछली का अस्तित्व जलाशय से भिन्न नहीं है, फिर भी समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों की तुलना उससे नहीं हो सकती। समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध का आधार एकजातीयता है, जबकि जल और मछली भिन्नजातीय हैं। समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध जलराशि और जलकण से तुलित होते हैं। समाज और व्यक्ति में वैसी ही सजातीयता है जैसी जलराशि और जलकण में है। व्यक्ति की

भाषा मे समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध का निकष है—एकजातीयता से निष्पन्न एकात्मकता।

व्यक्ति समाज से एकात्मक है। कोई भी एकात्मकता अमर्यादित नही होती। जहा सामाजिक सापेक्षता है वहा व्यक्ति समाज का अभिन्न अग है। जिस परिधि मे सामाजिक सापेक्षता नही होती, वहा व्यक्ति सामाजिक रेखा का एक बिन्दु है। यह निरपेक्षता अध्यात्म की परिधि मे प्राप्त होती है।

मैं देख रहा हू कि एक आदमी धनार्जन कर रहा है और घर के सभी लोग उसका उपभोग कर रहे हैं। धन भौतिक है इसलिए वह प्रसरणशील है—एक द्वारा अर्जित होने पर भी दूसरे द्वारा भुक्त हो सकता है।

मैं देखता हू कि एक आदमी धन का विनिमय कर रहा है। धन भौतिक है इसलिए उसका विनिमय हो सकता है—एक वस्तु के बदले मे दूसरी वस्तु दी जा सकती है।

अध्यात्म भौतिक वस्तु नहीं है इसीलिए वह प्रसरणशील भी नहीं है और उसका विनिमय भी नहीं हो सकता। वह आत्म-केन्द्रित है और नितान्त वैयक्तिक है। बिजली दृश्य वस्तुओ को प्रकाशित कर देती है पर उनमे अपनी प्रकाश-शक्ति नही भर सकती। एक व्यक्ति का आध्यात्मिक अस्तित्व दूसरे को आलोकित कर देता है किन्तु अपना आलोक दूसरे मे आरोपित नही करता, जैसे एक प्रज्वलित दीप से दूसरा अप्रज्वलित दीप प्रज्वलित हो उठता है। हर मनुष्य मे आध्यात्मिक आलोक है, और उतना ही है जितना कि महान माने जाने वाले किसी व्यक्ति मे है।

मैं देख रहा हू अगरबत्ती जल रही है और सारा वातावरण सुगन्ध मे भर गया है। अग्नि एक निमित्त है, जो अगरबत्ती की सुगन्ध को व्यक्त करती है। ऐसा ही कोई निमित्त पाकर व्यक्ति की सुगन्ध फूट पडती है और उसका वातावरण महक उठता है। पर यह सारा का सारा नितान्त वैयक्तिक है।

समाज की सत्ता मान लेने पर भी वैयक्तिकता को अमान्य करने मे

प्रमाद दिखाई देता है। समाज प्रवृत्ति-केन्द्र हो सकता है, किन्तु चैतन्य-केन्द्र नही हो सकता। वह हो मकता है व्यक्ति।

व्यक्ति समाजाभिमुख होकर शक्ति-स्फोट करता है और समाज व्यक्ति-अभिमुख होकर उपयोगी बनता है। व्यक्ति और समाज की निरपेक्ष व्याख्या हमे सत्य मे दूर ले जाती है।

१३ : सामूहिकता के बीच तैरती अनेकता

जैसा मैं हू वैसा ही दूमरा है, यह अस्तित्व की गहराई का स्वीकार है। व्यवहार-नीति का स्वीकार यह है कि जैसा मैं हू, वैसा दूसरा नहीं है और जैसा दूसरा है, वैसा मैं नही हू। मेरी क्षमता के जो तार जैसे झकृत हैं, दूसरे की क्षमता के तार वैसे झकृत नही हैं और यह झकार-भेद ही व्यक्ति का व्यक्तित्व है—मर्वथा स्वतत्र और सर्वथा निजी।

हम सघीय जीवन जीते हैं। हम अनेक होकर एकता का प्रदर्शन करते हैं—एक साथ खाते-पीते हैं, उठते-बैठते है, वातचीत करते हैं, सुख-दु ख का विनिमय करते हे, सहयोग और सहानुभूति का अभिनय करते हैं और इतना करने पर भी हम अनेक ही रहते है, एक नहीं हो पाते।

हम अनेक हे इसीलिए हमारे सम्मुख व्यवहार है, उपचार है। एकता व्यवहार और उपचार से ऊपर उठ जाती है। हम अनेक हे, इमीलिए हमारे सम्मुख तुलादण्ड है, मानदण्ड है। एकता तौल और माप से ऊपर उठ जाती है।

हम व्यवहार की भूमिका मे हे, इसलिए कोई भी तुलातीत या मापातीत नहीं है। हमारे पास तौल-माप का कोई सर्वसावारण तुलादण्ड और मानदण्ड भी नही है। हम अपने ही तुलादण्ड से दूसरो को तौलते हैं और अपने ही मानदण्ड से दूसरो को मापते हैं। इमी विन्दु पर हमारी अनेकता अपना असली रूप प्रदर्शित करती है। मैं एक हू, किन्तु अनेक लोगो के

सम्पर्क मे हू, इसलिए अनेक चक्षुओ मे मेरे अनेक प्रतिबिम्ब हैं। क्या मैं सचमुच अनेक हू ? मैं जानता हू कि मैं अनेक नही हू। मैं एक हू और वस्तु-सत्य यह है कि मैं एक हू। अनेकता का आरोपण मेरा अपना धर्म नही है, वह उनका है, जो अनेक है। हम अनेक हैं, इसीलिए मैं अपने ढग से सोचता हू और दूसरा व्यक्ति अपने ढग मे सोचता है। मैं उसके चिंतन मे सदेह करता हू और वह मेरे चिंतन मे सदेह करता है। मैं उसकी कार्य-पद्धति मे त्रुटि देखता हू और वह मेरी कार्य-पद्धति मे त्रुटि देखता है। मैं उसे भोला या मूर्ख मानता हू और वह मुझे भोला या मूर्ख मानता है। इस प्रकार हम एक समूह मे रहते हुए भी अपनी अनेकता को सुरक्षित रखे हुए हैं। हमारी अनेकता का एक हेतु है व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता और दूसरा है अपरिचय। हम व्यक्तिश स्वतत्र हैं, वह स्थिति समापनीय नही है। समाप्त स्थिति यह है कि हमारा परस्पर अपरिचय न हो। मैं जिससे परिचित नही हू, उसके प्रति मैं भ्रान्त नही हू और वह मेरे प्रति भ्रान्त नही है। मैं जिसकी सतह से परिचित हू, उसके प्रति मैं भ्रान्त हू और मेरे प्रति वह भ्रान्त है। मैं जिसकी गहराई से परिचित हू, उसके प्रति मैं भ्रान्त नही हू और मेरे प्रति वह भ्रान्त नही है। सामाजिक जीवन मे मैं दूसरे से भिन्न हू, उसका प्रमुख हेतु अपरिचयजनित भ्रान्ति है। सामाजिक एकता की प्राप्ति का मुख्य सूत्र होगा परिचय, निकट का परिचय अर्थात् अभ्रान्ति।

क्या मैं दूसरे से परिचित हू ? क्या दूसरा मुझसे परिचित है ? क्या मैं दूसरे से परिचित हो सकता हू ? क्या दूसरा मुझसे परिचित हो सकता है ?

पहले प्रश्न के उत्तर मे मैं कह सकता हू कि दूसरे व्यक्ति के नाम-रूप और स्थूल व्यवहारो का परिचय मुझे प्राप्त है। मेरे नाम-रूप और स्थूल व्यवहारो का परिचय उसे प्राप्त है। किन्तु मन की गहराइयो और उनमे उपजने वाले सूक्ष्म व्यवहारो से मैं भी परिचित नही हू और वह भी नही है। पर दूसरे से परिचित होने की सम्भावना को मैं स्वीकार करता हू। यदि हम तीन आवर्तों का पार पा जाए तो यह सम्भव है मेरे लिए भी

और दूसरे के लिए भी। अज्ञान पहला आवर्त है। कुछ विचारक कहते हैं—जानने से दुःख होता है। मैं इस विचार का प्रतिवाद इस भाषा मे नहीं करूगा कि नही जानने से दुःख होता है। किन्तु इस भाषा मे करूगा कि नही जानना स्वयं दुःख है। दुःख की सत्ता नही जानने की सत्ता पर अवलम्बित है। जैसे ही नही जानने की स्थिति समाप्त होती है, वैसे ही दुःख की सत्ता समाप्त हो जाती है।

दूसरा आवर्त सन्देह है। कुछ चाणक्य-पुत्र कहते हैं—दूसरो के प्रति सहसा विश्वास नही करना चाहिए। मेरे गुरु ने मुझे दूसरी तरह समझाया है। वह समझ है कि दूसरो के प्रति सहसा अविश्वास नही करना चाहिए। सन्देह, सन्देह और फिर सन्देह—इस शृंखला का कही भी अन्त नही है। सन्देह का अन्तिम उपचार विश्वास है। विश्वास मे कही खतरा सम्भव हो सकता है, किन्तु अविश्वास स्वयं खतरा है। विश्वास के खतरे की सक्षम जागरूकता के द्वारा चिकित्सा की जा सकती है, किन्तु अविश्वास सर्वथा अचिकित्स्य है।

मोह तीसरा आवर्त है। कुछ दूरदर्शी लोग शठता का व्यवहार शठ के प्रति—इस नीति-सूत्र मे सारी सफलता को निहित देखते हैं। अशुद्ध व्यवहार से मनुष्य का हृदय-परिवर्तन किया जा सकता है, इसमे उन्हें विफलता के दर्शन होते है। मेरे गुरु ने मुझे सफलता का सूत्र दिया है—'अशठव्यवहार'—शठ और अशठ दोनो के प्रति। यह सूत्र विवेकहीन प्रतीत होता है। तिमिर और आलोक दोनो के प्रति समनीति क्या विवेक-सम्मत होगी ? किन्तु मेरा गुरु-मत्र बहुत उल्टा है। उसकी परिधि मे तिमिर और आलोक दो हैं ही नही।

हर तिमिर की गहराई मे आलोक भरा है और हर आलोक तिमिर से आवृत है। मैं अशठ व्यवहार इसलिए करता हू, जिससे गहराई मे रहा आलोक सतह पर आ जाए और मैं शठता का व्यवहार इसलिए नही करता हू, जिससे आलोक तिमिर के आवरण से मुक्त हो जाए।

१४ : क्या मैं स्वतन्त्र हूं?

मुझे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि मैं स्वतन्त्र नहीं हूं। मैं क्या, जिसके मन्दिर में प्राण का प्रदीप जल रहा है, वह कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है। प्राणवायु प्रवाहित हो रहा है, मैं जी रहा हूं। अनाज उपज रहा है, मैं खा रहा हूं। जल बरस रहा है, मैं पी रहा हूं। मेरी पुष्टि अन्न और जल के अधीन है। मेरी जीवन-यात्रा प्राणवायु के अधीन है। जीवन का अर्थ है, पराधीनताओं की स्वीकृति।

मैं देख रहा हूं, सामने दीवट है, दीप जल रहा है। एक मृन्मय पात्र, तेल, बाती, हवा और अग्नि—दीप इन सबकी अधीनता स्वीकार कर प्रकाश दे रहा है।

मैं देख रहा हूं, बीज अंकुरित हो रहा है। उर्वरभूमि, जल, धूप, प्रकाश और हवा—बीज इन सबकी अधीनता स्वीकार कर रहा है। क्या दीप प्रकाश देने में स्वतन्त्र है? क्या बीज अंकुरित होने में स्वतन्त्र है? काल, स्वभाव, नियति, भाग्य और पुरुषार्थ की शृंखला से कोई भी मुक्त नहीं है। फलत: कोई भी स्वतन्त्र नहीं है।

एक पिंजरा टंगा हुआ है। उसके मध्य में एक सुग्गा बैठा है। पिंजड़े का द्वार खुला, सुग्गा उड़ गया। मैंने अपने आपसे पूछा, वह भोला पक्षी घर को छोड़ जंगल में क्यों चला गया? पिंजड़े में छितरे हुए मेवों को छोड़ सूने पेड़ों की शरण में क्यों चला गया?

कोई अज्ञात स्वर गूज उठा—पिंजडा वन्धन है। अनन्त शून्य की गोद मे स्वच्छन्द विहरने वाला सुग्गा वधन को कैसे पसन्द कर सकता है? मैंने इसका अर्थ यह समझा कि अनन्त शून्य से घिरा हुआ है, इसलिए घेरे की शून्यता मान्य नही है।

गति-पर्याय से घिरा हुआ जल क्या कभी सेतु को मान्यता देता है? वाघ का अर्थ है, जल की विवशता। वह गति के अधीन है, इसलिए उसे स्थिति मान्य नही है। मैं यही कहना चाहता हू कि वधन का अर्थ है, अपरिहार्य अधीनता के आकाश मे परिहार्य अधीनता का सगम। और स्वतन्त्रता का अर्थ है, केवल अपरिहार्य अधीनताओ का अवशेष। कोई कैसे कह सकता है कि आदमी को स्वतन्त्रता प्रिय है, परतन्त्रता प्रिय नही है। पैरो से चलना उतना प्रिय नही है, जितना प्रिय है दूसरो के सहारे चलना।

मैं देखता हू कि दिल्ली के राजपथ कारो से भरे हैं और उनमे वैठे हजारो लोग इधर-उधर आ-जा रहे हैं। यदि वे घेरे की शक्ति से परिचित नही होते तो कारो मे नही वैठते। वे जानते हैं कि अपने पैरो से चलने वाला घटे मे तीन-चार मील ही चल सकता है।

यदि मैं घेरे की शक्ति से परिचित नही होता तो परम्परा से नहीं जुडता। परम्परा, सम्प्रदाय, जाति और राष्ट्र—ये सव घेरे हैं, सीमा-वद्ध हैं। इनमे शक्ति नही होती तो ये कभी समाप्त हो जाते। पर ये जी रहे हैं और इसीलिए जी रहे हैं कि विद्युत का प्रवाह वल्व से घिरकर ही आलोक देता है। दृति से घिरा हुआ पवन जो कार्य कर सकता है, वह मुक्त आकाश मे न ी कर सकता। गोली मे शक्ति तभी आती है, जव वह बन्दूक से दागी जाती है। वाण मे शक्ति तभी आती है, जव वह धनुष से फेंका जाता है।

मनुष्य ने वन्धन का स्वीकार मूर्खतावश नही किया है। वह भाषा के वधन से वधा हुआ है, इसीलिए सोचता है और दूसरो तक पहुचता है। वह इद्रिय और मन से वधा हुआ है, इसीलिए गतिशील है। वह भूख मे वधा हुआ है, इसीलिए कार्य-रत है।

पर के प्रति व्यापृत होने के प्रेरक तत्त्व यही है—शरीर, भाषा, इन्द्रिय,
मन और सुख। इनका प्रवृत्ति-क्षेत्र ही समाज है। स्व यदि स्व ही रहना
तो मैं पूर्ण स्वतंत्र होता। जिसके पैर स्वस्थ हों, उसे बैसाखी की अपेक्षा
नहीं होती। मेरी अपूर्णता ने भी मुझे सापेक्षता की ओर झुकाया है। मेरे
वाच्य का निगमन यह है कि मैं अपूर्ण हूं, इसलिए सापेक्ष हूं, और सापेक्ष हूं,
इसलिए इस प्रश्न से आलोकित हूं, कि क्या मैं स्वतंत्र हूं? स्वतंत्र वह है
जो ऊपर उठता है। परतंत्र वह है जो नीचे जाता है। लिप्त नीचे जाता
है। निर्लेप ऊपर उठता है। हल्का ऊपर उठता है, भारी नीचे जाता है।
तुम्बे पर मिट्टी के लेप चढ़ाए। वह जल में डूब गया। जैसे-जैसे लेप उतरे,
वह ऊपर आ गया। धुआं इसीलिए ऊपर गया कि वह हल्का है। पत्थर
इसीलिए नीचे आया कि वह भारी है। ऊपर जाना लाघव की अधीनता
है, और नीचे जाना भार की अधीनता। लेप ने निर्लेपता की अनुभूति दी
है और अधःपात ने ऊर्ध्वगमन की।

यदि अंधकार नहीं होता तो प्रकाश का वह मूल्य नहीं होता, जो
आज है। स्वास्थ्य, सुख और शान्ति का मूल्य रोग, दुःख और अशान्ति के
संदर्शन में ही आंका जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि निरपेक्ष
मूल्यांकन से अतीत है और इसका अर्थ यह हुआ कि वह कालातीत है। मैं
ग्रस्त हूं, इसलिए कालाक्रांत हूं। मैं कालाक्रांत हूं, इसलिए भूत, भविष्य
और वर्तमान की मर्यादा में मर्यादित हूं। क्या कोई मर्यादित व्यक्ति यह
जिज्ञासा कर सकता है कि मैं स्वतंत्र हूं?

कुम्हार का चाक कुछ क्षण पहले उसकी उंगली के अधीन होकर चल
रहा था। अब वह उस वेग के अधीन चल रहा है जो उंगली द्वारा प्रदत्त
है। मैं कभी उंगली के अधीन चल रहा हूं और कभी वेग के अधीन।
दुनिया की सारी गतिशीलता अधीनता द्वारा नियंत्रित है। एक बार एक
राजा और मंत्री में विवाद हो गया। मंत्री ने कहा—सारे लोग पत्नी की
अधीनता स्वीकार कर चल रहे हैं। राजा ने उसका प्रतिवाद किया।
आखिर परीक्षा की घड़ी आयी। दो रेखें खींचीं। पत्नी की अधीनता को

मान्यता देने वाला खेमा भर गया। दूसरे खेमे मे सिर्फ एक व्यक्ति गया। राजा के पूछने पर उसने बताया कि मेरी पत्नी ने कहा है—भीड-भाड मे मत फसना, इसलिए मैं अकेला खडा हू। सारे नगर में एक भी व्यक्ति ऐसा नही मिला, जो पत्नी द्वारा चालित न हो। सारी दुनिया मे एक भी व्यक्ति ऐसा नही है, जो अपेक्षाओ द्वारा सचालित न हो।

मैं एक बार जगली माषो के पौधो से घिरा बैठा था। दोपहरी की वेला थी। सूरज अपनी प्रखर रश्मियो से उन पौधो पर आग बरसा रहा था। उन पर लगी फलियो मे तड-तड की ध्वनि हो रही थी। मैंने सस्मय दृष्टि से देखा—फलिया टूट रही है, दाने आकाश मे उछल रहे हैं। उछलने मे स्वतत्रता के आनन्द की अनुभूति थी। अनुभूति ने मुझे यह सबोध दिया कि दाने को फली की अधीनता मान्य हो सकती है, यदि वह पकने के बाद दाने को मुक्त करने के लिए प्रस्तुत हो। फल को वृन्त की अधीनता मान्य हो सकती है, यदि वह पकने के बाद फल को मुक्त करने के लिए प्रस्तुत हो। इस सचर्चा के बाद मेरे मन पर वह प्रश्न नही उभर रहा है कि क्या मैं स्वतत्र हू? किन्तु यह विश्वास उभर रहा है कि मैं स्वतत्र होने के लिए परतत्र हू।

१५ : अहिंसा का आदि-बिन्दु

मैं अपने आपको अपूर्ण मानता हू, फिर भी कोई व्यक्ति मेरी अपूर्णता की ओर इंगित करता है तो मेरी पूर्णता की आग प्रज्वलित हो उठती है। अपूर्णता की स्मृति क्षणभर के लिए लुप्त हो जाती है। मैं सोचता हू, ऐसा क्यों होता है? शायद इसीलिए होता है कि इंगित करने वाला मेरी पूर्णता को लक्ष्य करके ही मेरी अपूर्णता की ओर इंगित करता है। उसके मन में एक चित्र मेरी पूर्णता का होता है और वह इंगित करता है मेरी अपूर्णता की ओर। वह मेरी अपूर्णता को लक्ष्य में रखकर उसकी ओर इंगित करे तो मुझे अपनी अपूर्णता की विस्मृति का क्षण न देखना पड़े।

अहिंसा में मेरी आस्था है। यदा-कदा उसके प्रयोग भी करता हू। किन्तु हिंसा के चिर संचित संस्कारों को चीरकर मैं अहिंसा की प्रतिष्ठा कर चुका हू, यह मैं मानू तो मेरा दम्भ होगा। मैं इतना ही मान सकता हू कि मैं अहिंसा की दिशा में चल रहा हूँ। कब तक वहा पहुच पाऊगा— यह प्रश्न केवल वर्तमान से ही जुड़ा होता तो मैं इसके उत्तर की रेखा खींच पाता। किन्तु यह प्रश्न मेरे अतीत से जुड़ा हुआ है, इसलिए अहिंसा की दिशा में चल रहा हू, इससे आगे कहने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है।

मेरे प्रिय आलोचक! मैं इतना-सा कुछ बता सकता हू कि मैं स्पष्ट नहीं हू। मैं प्रयत्नशील जन को स्वच्छ मानता हू और यह भी मानता हू

कि गढे मे अवरुद्ध जल की स्वच्छता नष्ट हो जाती है।

मैं जो हू, वही रहू और जैसा हू, वैसा ही रहू इस मनोवृत्ति मे मेरी कोई आस्था नही है और इसलिए नही है कि इसमे मैं हिंसा की पौध को पनपते देखता हू।

'मैं अपूर्ण हू और पूर्ण होना चाहता हू यही मेरी अहिंसा का आदि विन्दु है। अपूर्ण पूर्ण तभी होगा, जव जो है, वह नही रहेगा और जो नही है, वह होगा। यह है मेरा अपना आलोचन अपनी ही लेखनी द्वारा प्रसूत।

१६ : अहिंसा का अर्थ

मैं अपने जीवन का सिंहावलोकन करता हू तब कल्पनालोक से उतर धरती पर आ जाता हू और कल्पना के पखो को छोड अपने पैरो से चलने लग जाता हू। मैं देखता हू, एक दिन मैंने सकल्प किया था, मैं अहिंसा का पालन करूगा। उस समय मेरे लिए अहिंसा का अर्थ था जीवो को न मारना। जहा जीव न मरे, वहा भी अहिंसा हो सकती है, यह मेरे लिए अतर्कणीय था।

जीव-दया की अर्थ-गरिमा भी कम नही है। आत्मतुला के भाव की चरम परिणति मे अतुल आनन्दानुभूति होती है। समय-समय पर मुझे उसकी अनुभूति हुई है। मैं जैसे-जैसे बडा हुआ, महर्षियो की मनोभूमिका पर विहरने लगा, तब मुझे प्रतीत हुआ मेरी अहिंसा की समझ अधूरी है। अहिंसा की परिपूर्ण वेदिका के निर्माण के लिए मैं तडप उठा। मैंने समझा अहिंसा का अर्थ है, परिस्थिति के मर्म-भेदी परशु से समाहत न होना। इस कुशल जगत् मे ऐसा कोई भी प्राणी नही है, जो परिस्थिति के मृदु पुष्प से प्रसन्न और कठोर वज्र से आहत न हो। मुझे लगा जो व्यक्ति अपनी जीवन-धारा को परिस्थिति के प्रभाव-क्षेत्र की ओर प्रवाहित कर देता है, वह अहिंसा की अनुपालना नही कर सकता। परिस्थिति की मृदुता से आने वाली मूर्च्छा के साथ-साथ चेतना मूर्च्छित हो जाती है और उसकी कठोरता से उपजने वाली कुण्ठा के साथ-साथ वह कुण्ठित हो जाती है।

अहिंसा चेतना की स्वतन्त्र दशा है। जो सर्दी से अभिभूत हो जाए, वह स्वतन्त्र नही हो सकती। जो गर्मी से अभिभूत हो जाए, वह भी स्वतन्त्र नही हो सकती। स्वतन्त्र वह हो सकती है, जो किसी से अभिभूत न हो। अव मेरी अहिंसा का प्रकाश-स्तम्भ यही है। इसमे प्राणी-दया के प्रति मेरा मन पहले से अधिक सवेदनशील वना है, दूसरे की पीडा मे अपनी पीडा की तीव्र अनुभूति होने लगी है। यदि मैं परिस्थिति की कारा का वन्दी वना वैठा रहता तो दूसरो के प्रति निरन्तर सवेदननशील नही रह पाता।

परिस्थिति निरन्तर एकरूप नही रहती। उसके प्रतिविम्व को स्वीकार करने वाली चेतना भी एकरूप नही रह सकती। कुछ लोग मुझे व्यवहार-कुशल मानते है तो कुछ लोग मानते हैं कि मैं व्यवहार-कुशल नही हू। कुछ लोग मानते हैं, मैं आध्यात्मिक हू तो कुछ लोग मानते हैं, यह मेरी सारी राजनीति है। अनेक तुलाए हैं और अनेक मापदण्ड। मैं तुलनीय हू, इसलिए तोला जाता हू। मैं माप्य हू, इसलिए मापा जाता हू। यदि मैं तुलातीत और मापातीत होता तो मेरी अहिंसा प्रस्तर-जगत् की अहिंसा और मेरी शान्ति श्मशान की शान्ति होती। मेरी अहिंसा चेतना-जगत् की अहिंसा है और मेरी शान्ति तुमुल के मध्य मे स्नात शान्ति है। इसका साक्ष्य यही है कि मैं दूसरो की तुला से तुलित अपने व्यक्तित्व का निरीक्षण-परीक्षण करता हू पर मान्यता उसी व्यक्तित्व को देता हू, जो मेरी अपनी तुला से तुलित है। मेरे लिए मानदण्ड भी मेरा अपना है। इसमे मेरा अह नही वोल रहा है। यह मेरे अस्तित्व का वोध है, जो किसी अपर सत्ता से प्रतिहत नही होता। यह अस्तित्व का अप्रतिघात ही मेरी आज की अहिंसा है।

अहिंसा के दो आयाम हैं—प्रतिरोध और प्रतिकार। हिंसा के भी ये दो आयाम हैं। प्रतिरोध अपना वचाव है और प्रतिकार है परिस्थिति पर आघात। अहिंसा मे प्रतिरोध और प्रतिकार की शक्ति नही रही तो अहिंसक निर्वीर्य वन जाएगा, शक्ति-सतुलन हिंसा के हाथ मे चला जाएगा।

आज जन-साधारण मे अहिंसा के प्रति जो भ्रम है, वह निरस्त होना

चाहिए। उसे यह अनुभव होना चाहिए कि अहिंसा निर्वीर्य नहीं है। उसमें प्रतिरोध और प्रतिकार की क्षमता हिंसा की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और तीव्र है।

हिंसा में विश्वास करने वाला उसका प्रतिरोध और प्रतिकार उससे प्रभावित होकर करता है, हिंसा को स्वीकार करके करता है। हिंसा और हिंसा—परस्पर सजातीय हैं। इसीलिए हिंसा हिंसा को मारती नहीं, उभारती है, उसे परम्परा-पात में प्रवाहित करती है।

अहिंसा में विश्वास करने वाला हिंसा का प्रतिरोध और प्रतिकार उससे अप्रभावित होकर करता है—हिंसा की परिस्थिति को मान्यता न देते हुए करता है। हिंसा और अहिंसा परस्पर विजातीय हैं। इसीलिए अहिंसा से हिंसा निरस्त हो जाती है, उसकी परम्परा समाप्त हो जाती है। अहिंसा की प्रतिरोध-शक्ति है स्वतन्त्र चेतना का अनावृतीकरण और उसकी प्रतिकार शक्ति है प्रेम का विस्तार और उतना विस्तार, जिसमें शून्य न हो, अप्रीति के लिए कोई अवकाश न हो।

मैं विमल दृष्टि से देखता हूं—यदि मैं परिस्थिति-परतन्त्र चेतना को मान्यता देकर चलता तो मेरा शक्ति-बीज अंकुरित होने से पहले ही विलुप्त हो जाता।

मैंने न जाने कितनी बार इस सूत्र की पुनरावृत्ति की है—"वह पराजय को निमन्त्रण देता है जो क्रिया से विमुख हो प्रतिक्रिया के सम्मुख चलता है।'

प्रेम का विस्तार, यह मेरी क्रिया है। इसमें मेरी चेतना का स्वतन्त्र कर्तृत्व है। इससे प्रतिहत होकर हिंसा अपनी मौत मर जाती है।

मैं हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करने लगूं तो वह मेरी प्रतिक्रिया होगी। मेरे द्वारा नियन्त्रित नहीं किन्तु सम्मुखीन परिस्थिति द्वारा नियन्त्रित क्रिया होगी, यानी प्रतिक्रिया होगी।

इस प्रतिक्रिया से मुझे बल नहीं मिलता। किन्तु मेरा बल उसमें जाता है जिसके प्रति मैं क्रिया करता हूं। इसका अर्थ होता है मेरी विरोधी

परिस्थिति मेरे वल का सबल पाकर अपनी प्रहार-शक्ति को तीव्र वना लेती है। क्या मेरी मूर्खता का इससे अनुपम उदाहरण और कोई हो सकता है कि मैं अपनी शक्ति का दान उसके लिए करू, जो मुझे शक्ति-शून्य करना चाहती है? 'आत्म-विश्वास जितना शून्य होता है, उतना ही उसमे परिस्थिति को अवकाश मिलता है'—इस सूत्र ने मुझे जो आलोक दिया है, उससे मैं लाभान्वित हुआ हू और अमा की अधियारी मे भी अपना पथ देख लेता हू।

मैं कई वर्षों से इस साधना के प्रति प्रयत्नशील हू कि मेरे मन मे अप्रियता की अनुभूति का स्रोत सूख जाए। वह स्रोत, जो मेरे भीतर प्रवाहित होकर मेरी सुखानुभूति की पौध को पल्लवित नही करता, किंतु सुखाता है।

'अप्रियता की अनुभूति जिसके प्रति होती है, वहा तक पहुचे विना ही वह लौटकर अपने उद्गम मे आ जाती है और वहा अपना काम करती है—इस सत्य की अनुभूति मुझे जव से हुई है, तव से मैं मानता हू कि मैंने अहिंसा-देवता को अपनी आस्था अर्पित की है।

मैं आज अन्त करण का उद्घाटन नही कर रहा हू। मैं उस शाश्वत सत्य के आलोक मे अपना अन्त करण पढ रहा हू। सुख-दु ख की मनो-ग्रन्थियो से मुक्त वही है, जो सर्दी और गर्मी से प्रभावित नही है। वन्धन को तोड डालने मे सक्षम वही है, जो परिस्थिति का प्रतिविम्व नही है।

विम्व और प्रतिविम्व का जगत् प्रतिक्रिया का जगत् है। उस जगत् का शब्दकोश स्वतन्त्रता जैसे शब्द से शून्य है। वहा न स्वत स्फूर्त क्रिया है और न अपना कर्तृ व्य, न अपनी शक्ति है और न अपना आनन्द। वहा जो कुछ है, वह है प्रतिविम्व और आभास, खेद और आयास, और तव तक जव तक हिंसा का रगमच आकर्षण का केन्द्र-विन्दु वना हुआ है।

१७ : अहिंसा की अनुस्यूति

मैंने कई बार सोचा—अपने आपको अनावृत कर दूं, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सकें। यह आवरण ही उन्हें संदिग्ध किए हुए है। जब तक आवरण रहेगा तब तक सन्देह निरस्त नहीं होगा। विश्वास अनावरण से उपजता है। इस सृष्टि को द्वन्द्व पसन्द है। इसीलिए इस परदे की सृष्टि हुई। यदि यह संसार सीधा-सरल होता, कहीं कोई घुमाव या छिपाव नहीं होता तो सन्देह जन्म ही नहीं ले पाता।

पर सृष्टि द्वन्द्व चाहती है, सबको एक होने देना नहीं चाहती, इसीलिए अनेक घुमाव और छिपाव हैं। जहां-जहां घुमाव और छिपाव हैं, वहां-वहां सन्देह है।

मैंने कई बार सोचा—कोई ऐसा दीप जलाऊं, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सकें। यह अन्धकार ही उन्हें संदिग्ध किए हुए है। जब तक अन्धकार रहेगा, तब तक सन्देह निरस्त नहीं होगा। विश्वास प्रकाश में उपजता है। इस सृष्टि को द्वन्द्व पसन्द है। इसीलिए वह प्रकाश के साथ-साथ अन्धकार को भी अवकाश देती है।

मैंने कई बार सोचा—इस हिमालय के उत्तुंग शिखरों को तोड़ डालूं, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सकें। यह ऊंचाई ही उन्हें संदिग्ध किए हुए है। जब तक ऊंचाई रहेगी तब तक सन्देह निरस्त नहीं होगा। विश्वास समतल में उपजता है। इस सृष्टि को विषमता पसन्द है। इसीलिए इसने

दो समतलो के वीच एक ऊचाई चिन रखी है।

मैंने कई वार सोचा—इस अनन्त जलराशि को सुखा दू, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सकें। यह गहराई ही उन्हे सदिग्ध किए हुए है। जव तक गहराई रहेगी, तव तक सन्देह निरस्त नही होगा। विश्वास समतलो मे उपजता है। इस सृष्टि को विषमता पसन्द है, इसीलिए उसने दो समतल के वीच एक गहराई विछा रखी है।

मैंने कई वार सोचा—इस प्रासाद-वास को छोड दू, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सकें। यह दीवार का व्यवधान ही उन्हे सदिग्ध किए हुए है। जव तक व्यवधान रहेगा, तव तक सन्देह निरस्त नही होगा। विश्वास अव्यवधान मे उपजता है। इस सृष्टि को द्वन्द्व पसन्द है। इसीलिए यह प्रासाद-सृष्टि हुई है। यदि आकाश मुक्त ही होता तो सन्देह उपज ही नहीं पाता। जहा-जहा मनुष्य ने आकाश को वाघा है, वहा-वहा सन्देह को जन्म मिला है।

मैंने फिर सोचा—मैं कही पतवार-विहीन नौका की भाति कल्पना के अविराम प्रवाह मे वहा तो नही जा रहा हू ?

मैंने फिर सोचा—मैं कही चक्रवात मे उलझे हुए पछी की भाति अनन्त अकाश मे उडा तो नही जा रहा हू ?

क्या मेरी नौका को कोई तट प्राप्त है ? क्या मेरे पछी का कोई धरातल है ? क्या अनावरण, प्रकाश, अव्यवधान और समतल वास्तविक है ? व्यावहारिक है ? क्या इन कठपुतलियो के लिए ये सभाव्य हैं ?

एक के वाद एक प्रश्न मेरे मन मे उठने लगे और मेरे साथियो के असख्य स्वर एक साथ मेरे कानो मे गूजने लगे—वे अवास्तविक हैं, अव्यावहारिक हैं और असभाव्य है—इन कठपुतलियो के लिए, जो चालित है, किन्तु स्वय के द्वारा नही।

वे स्वर वहुत मीठे थे। पर न जाने क्या हुआ, वे मुझे नही मोह सके। साप-काटे को नीम मीठा लगता है। यह विपर्यय है पर मिथ्या नहीं है। मैं सर्प-दष्ट नही था, यह कैसे कहू ? जिसमे हिसा का एक सस्कार भी शेप

है, जिसके चैतसिक दर्पण में धुंधला-सा प्रतिबिम्ब भी अंकित है, वह विष-
विमुक्त नहीं है और उसे नीम मीठा लगना ही चाहिए। शेष दुनिया को
जो कड़वा लगे, वह विष-व्यथित को मीठा न लगे तो समझना चाहिए,
उसकी चेतना मूर्च्छित हो चुकी है। वह असाध्य अवस्था तक पहुंच चुका है।

दुनिया को कड़वे लगने वाले अध्यात्म के स्वर मुझे मीठे लगे, तब मैंने
सोचा मुझमें जहर है। मिठास की अनुभूति ने मुझे आश्वस्त भी किया कि
मैं असाध्य रोगी नहीं हूं।

मेरे चिकित्सक ने किसी को असाध्य माना ही नहीं था। उसका
ध्वनि-निर्घोष है—

यह मेरी दवा उन सबके लिए है जो विष की वेदना में व्यथित हैं, भले
फिर वे—

जागृत हों या निद्रा-रत
स्फूर्त हों या अलस
गतिशील हों या स्थितिशील
शोध-युक्त हों या शोध-मुक्त
आबद्ध हों या निर्बन्ध।

मेरे चिकित्सक ने मुझे इतना प्रभावित कर दिया कि मैं अपने साथियों
को सन्तोष नहीं दे सका। मैं जैसे-जैसे विषमुक्त होता जा रहा हूं, वैसे-वैसे
मेरी मान्यताएं प्रश्नचिह्न बनती जा रही हैं।

मैंने मान रखा था—चीनी मीठी है, नीम कड़वा है। आज वह प्रश्न-
चिह्न बन गया है—क्या चीनी मीठी है? क्या नीम कड़वा है?

मैंने मान रखा था—अग्नि गर्म है, बर्फ ठण्डी है। आज वह प्रश्नचिह्न
बन गई है—क्या अग्नि गर्म है? क्या बर्फ ठण्डी है?

मैंने मान रखा था—यह अन्धकार है, यह प्रकाश है। किन्तु जिज्ञासा ने प्रश्नचिह्न उभर रहा है—क्या अन्धकार अन्धकार ही है? क्या
प्रकाश प्रकाश ही है?

इन प्रश्नचिह्नों ने मेरा मन आन्दोलित कर दिया। मेरी मूर्च्छित चेतना

जाग उठी। अब मैं देखता हू, सुनता नही हू। अब मैं जानता हू, मानता नही हू। मैं देख रहा हू और साक्षात् देख रहा हू—स्वार्थ की समरेखा मे सब सबके लिए मधुर हैं और स्वार्थ की विषम रेखा मे सब सबके लिए कटु हैं। कोई किसी के लिए नितान्त मधुर नही है और कोई किसी के लिए नितान्त कटु नही है। जो मधुर है, वह कटु भी है और जो कटु है, वह मधुर भी है।

मैं देख रहा हू और साक्षात् देख रहा हू—शक्ति-शून्य सत्ता के सम्मुख सब गर्म हैं और शक्ति-सम्पन्न सत्ता के सम्मुख सब ठडे हैं। कोई किसी के लिए नितान्त गर्म नही है और कोई किसी के लिए नितान्त ठन्डा नही है। जो गर्म है, वह ठडा भी है, और ठडा है, वह गर्म भी है।

मैं देख रहा हू और साक्षात् देख रहा हू—जो दृष्टि से विपन्न है, उसके लिए चहु ओर अन्धकार ही अन्धकार है और जो दृष्टि से सम्पन्न है, उसके लिए चहु ओर प्रकाश ही प्रकाश है। नितान्त अन्धकार जैसा भी कुछ नही है और नितान्त प्रकाश जैसा भी कुछ नही है। जो अन्धकार है, वह प्रकाश भी है और जो प्रकाश है, वह अन्धकार भी है।

इस अहिंसा की अनुभूति ने मुझे उस सदर्भ तक पहुचा दिया—जो आने का मार्ग है, वही जाने का मार्ग है, और जो जाने का मार्ग है, वही आने का मार्ग है।

इसी सत्य की अनुभूति से अनुप्राणित हो, एक बार मैंने लिखा था—जो आरोहण के सोपान हैं, वे ही अवरोहण के सोपान हैं और जो अवरोहण के सोपान हैं, वे ही आरोहण के सोपान हैं। आरोहण और अवरोहण के सोपान दो नही हैं।

१८ : सापेक्ष सत्य

मेरी आँखों के सामने एक वृद्ध का चित्र उभर रहा है। वह अपने यौवन में बहुत स्वस्थ और सुन्दर रहा है। उसमें जितनी कमजा शक्ति थी, उतना ही वह कर्म-कुशल था। वह चर्म-चक्षुओं और मर्म-चक्षुओं—दोनों के लिए आकर्षण-केन्द्र था। अब वह वृद्ध हो गया है। उसका सुन्दर शरीर वलि-सवलित हो गया है। उसकी नमित केशराशि पलित हो गई है। उसका स्वस्थ शरीर रुग्ण हो गया है। अब वह चर्म-चक्षुओं का आकर्षण-केन्द्र नहीं है। उसके ज्ञानेन्द्रिय शिथिल हो चुके हैं और कर्मेन्द्रिय शक्ति-हीन। अब वह कर्मकुशल नहीं है और मर्म-चक्षुओं का आकर्षण-केन्द्र भी नहीं है। वह अतीत की स्थिति का स्मरण कर दुःख का संवेदन कर रहा है। यह दुःख वर्तमान में है, किन्तु वर्तमान की स्थिति से प्राप्त नहीं है। वह अतीत के संदर्भ में वर्तमान की स्थिति से प्राप्त है। यदि वह अतीत में स्वस्थ और सुन्दर नहीं होता, यदि वह अतीत में कर्मठ और कर्म-कुशल नहीं होता और जनता के लिए आकर्षण-केन्द्र नहीं होता तो वह इतना दुःखी नहीं होता।

यदि अतीत और वर्तमान की स्मृति-शृंखला [illegible] नहीं होती, [illegible] यही है—यह प्रत्यभिज्ञा नहीं होती तो वह दुःखी नहीं होता।

मैं जिस पर्याय में आकर्षण-केन्द्र था, वह पर्याय [illegible] हो चुका है। मैं अभी जिस पर्याय में हूँ, वह अनित्य पर्याय [illegible] [illegible] है। इसी

आकर्षण-केन्द्र वनने की क्षमता नही है। इस प्रकार वस्तुगत एकता मे अवस्थागत भिन्नता का सम्यक् सवेदन होता तो वह दु खी नही होता।

यदि उसका ज्ञान और दर्शन सम्यक् होता तो वह दु खी नही होता।

यह अतीत से आवृत वर्तमान भगवान महावीर का नैगम नय है।

एक किसान ने अपनी पत्नी से कहा—'मैं भैस ला रहा हू।' वह बोली—'भले लाओ, पर दूध की मलाई अपनी मा को खिलाऊगी।' किसान बोला—'यह कैसे हो सकता है? भैस मैं लाऊ और मलाई खाए तुम्हारी मा!' इस वात पर विवाद वढ गया। दोनो लड पडे।

पडोसी आया। लाठी को घुमा घडे फोड डाले। किसान गुनगुनाया तो वह वोला—'तेरी भैस मेरा खेत चर गई।' किमान ने कहा—'मेरे घर भैस है ही नही, फिर तुम्हारा खेत कहा से चर गई?' पडोसी वोला—'अभी स ही भैनही है तो फिर मलाई की लडाई कैसी?'

यह भविष्य से प्रभावित वर्तमान है और नैगम नय का एक चरण।

जव मैं पदार्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया को देखता हू तो मुझे दिखाई देता है सघटन और विघटन का लीलाचक्र। सिन्वु और क्या है? विन्दु-विन्दु का सघटन। विन्दु और क्या है? सिन्धु का विघटन। सघटन मे विस्तार है। उसकी अपनी उपयोगिता है। जल-पोत विन्दु पर नही तैर सकते। विघटन मे मक्षेप है। उसकी अपनी उपयोगिता है। चिडिया की चोच मे सिन्वु नही समा सकता। इसीलिए मिन्धु भी सत्य है और विन्दु भी सत्य है।

कपडे का अपना उपयोग है। वह मर्दी मे, धूप से वचाता है। धागे का अपना उपयोग है। वह दो को साधता है। पर माधने मे कपडे का और सर्दी से वचाने मे धागे का कोई उपयोग नही है। इसीलिए कपडा भी सत्य है और धागा भी सत्य है। इन दो सापेक्ष सत्यो की स्वीकृति महावीर का सग्रह और व्यवहार नय है।

मेरी दृष्टि के सामने एक उपवन है। उसमे पचासो गुलाव के पौधे हैं—आकर्पक और मनोरम। उनके वहुरगी फूल वडे लुभावने हैं। उनसे

सौरभ फूट रही है। उपवन में आने वाला हर व्यक्ति उन्हें ललचाई आंखों से देखता है।

मैं कुछ वर्षों बाद देखता हूं, वह उपवन उजड़ रहा है। माली की उंगलियां जल-सेंक से विरत हो गई हैं। पौधे सूख गए हैं। उस ओर आने वाला हर व्यक्ति उन्हें दया की दृष्टि से देखता है।

गुलाब के पौधों का अतीत का वैभव असत् हो गया है। अब सत् है उनका मरण। यह वर्तमान सत्य महावीर का ऋजुसूत्र नय है।

एक संगोष्ठी हो रही थी। एक प्रवचनकार शास्त्र का निरसन कर रहे थे। मैंने मन ही मन सोचा, शास्त्र का समर्थन भी शास्त्र के द्वारा होता है और शास्त्र का निरसन भी शास्त्र के द्वारा होता है। यदि शब्दात्मक ज्ञान नहीं होता तो कौन किसका समर्थन करता और कौन किसका निरसन? क्या प्रवचनकार शब्द का सहारा लिये बिना शास्त्र का निरसन कर सकते थे? वस्तुतः वे शास्त्र का निरसन नहीं कर रहे थे, किन्तु प्राचीन शास्त्र पर अपने शास्त्र का समारोपण कर रहे थे। यह समारोपण एकांगी दृष्टि से होता है। काल-परिवर्तन के साथ ध्वनि के अर्थ-परिवर्तन को मान्यता दी जाए तो शास्त्र में निरसन जैसा क्या बचेगा? दिल्ली एक शब्द है। वह दिल्ली नामक भूखण्ड का वाचक है। दिल्ली थी, दिल्ली है और दिल्ली रहेगी—इन तीनों शब्दों का अर्थ एक नहीं है। अंग्रेजों की दिल्ली से कांग्रेसी-शासन की दिल्ली भिन्न है और किसी भावी शासन की दिल्ली कांग्रेसी-शासन की दिल्ली से भिन्न होगी। सूक्ष्म का स्पर्श करें तो कल की दिल्ली से आज की दिल्ली भिन्न है और आज की दिल्ली से कल की दिल्ली भिन्न होगी।

यह काल-योग से प्रभावित होने वाला शब्द का अर्थबोध महावीर का शब्द नय है।

आज हम आचार्य गुरुजी के साथ [illegible] उद्यान में परिभ्रमण कर रहे थे। सामने पहाड़ की चढ़ाई थी, सीढ़ियां बनी हुई थीं। आचार्यश्री ने सीढ़ियां चढ़ते-चढ़ते कहा— यह तो उतार है।

मेरी स्मृति तत्काल उस अर्थ-सज्ञा से अभिभूत हो गई कि उद्यान का वाच्य है—ऊर्ध्व-भूमि पर बना हुआ उपवन। वाच्य और वाचक का परस्पर गहरा अनुबन्ध है। ऐसा कोई भी वाच्य नही है, जिसका दो वाचको द्वारा प्रतिवचन किया जा सके। निरुक्ति की भिन्नता के साथ-साथ अर्थ की भिन्नता आ जाती है। यह महावीर का समभिरूढ नय है।

एक राज्याधिकारी दो दीप जलाते थे। एक सरकारी तेल से और एक अपने तेल से। जब वे सरकारी काम करते तब राजकीय तेल से दीप जलाते थे और जब घरेलू काम करते तब अपने तेल से दीप जलाते थे। इसी प्रकार की कई घटनाए और प्राप्त होती है। एक राज्याधिकारी जब सरकारी काम के लिए जाते हैं तब राजकीय मोटर कार का उपयोग करते हैं और जब घरेलू काम के लिए जाते हैं, तब उसका उपयोग नही करते, बस मे बैठकर चले जाते हैं, क्योकि उस समय वे राज्याधिकारी नही होते। वे राज्याधिकारी उसी क्षण होते है, जिस क्षण राज्याधिकार का कार्य कर रहे होते हैं। यह महावीर का एवम्भूत नय है।

हम सापेक्ष सत्यो के जगत् मे जीते हैं, इसलिए उनकी व्याख्या हमारे लिए अधिक मूल्यवान है। उसका मूल्याकन कर हम अनेक समस्याओ से मुक्ति पा सकते हैं। सब समस्याओ का स्रोत है—आग्रह का सरोहण। आग्रह असत्य को जन्म देता है और असत्य समस्याओ को। सापेक्षदृष्टि का प्रतिपादन भारतीय विचारधारा को महावीर की बहुत बडी देन है। इससे अनाग्रह का विकास होता है। अनाग्रह से सत्य का स्पर्श और सत्य के स्पर्श से समस्याओ का समाधान होता है।

धर्म-क्रान्ति

कि धार्मिक लोगो को परलोक सुधारने की जितनी चिन्ता है, उतनी इहलोक सुधारने की नही है। उनमे परलोक को सुखमय बनाने की जितनी धुन है, उतनी इहलोक को सुखमय बनाने की नही है। यह अकारण भी नही। उनकी मान्यता है कि इस जीवन मे जो बुरा कर्म हो रहा है, उसका कोई उपाय नही। वह तो पिछले जन्म मे किए हुए बुरे कर्मो का फल है। इस जीवन मे जितना अच्छा कर्म करेंगे, उतना ही अगला जीवन अच्छा होगा।

उनके अच्छे जीवन की कल्पना है—पास मे खूब धन हो, अच्छा मकान हो, अच्छा परिवार हो, नौकर-चाकर हो तथा सुख-सुविधा के सब साधन उपलब्ध हो। अप्रामाणिकता, झूठ, विश्वासघात आदि उनके अच्छे जीवन की कल्पना मे बाधक नही हैं। वे सन्यासी नही हैं। उन्हे व्यापार कर जीविका चलाना है। क्या प्रामाणिकता, सचाई आदि से जीविका चलाई जा सकती है ? ये तर्क उनके व्यवहार को कभी विशुद्ध नही होने देते। उनकी धर्म की कल्पना को मैं एक घटना के द्वारा स्पष्ट करू।

एक दिन गोष्ठी मे एक नया चेहरा दिखाई दिया। उपस्थित गोष्ठी सदस्यो ने जिज्ञासा के साथ पूछा—'तुम्हारे जीवन की विशेषता क्या है ?' वह बोला—'मेरे जीवन की विशेषता यह है कि मैं धर्म को कभी नही छोडता' सबने उसकी ओर आश्चर्यभरी दृष्टि से देखा तो उसका उत्साह आगे बढा। वह बोला—'मैंने जरूरत पडने पर शराब पी ली, जुआ खेल लिया, पर धर्म को नही छोडा। भूख की समस्या बडी जटिल है, उसके लिए कभी-कभी चोरी भी की और डाका भी डाला, पर धर्म नही छोडा। मन की दुर्बलता हर आदमी मे होती है। उसके वशीभूत हो वेश्यागमन भी कर गया, पर धर्म नही छोडा। कभी-कभी क्रोध के वश मे आ खून भी कर डाला, पर धर्म नही छोडा।' वह आख मूदकर अपनी प्रशसा के गीत गाता ही चला गया। एक सदस्य ने ससम्मान पूछा—'तो महाशय ! आपका धर्म क्या है ?' वह गर्व की भाषा मे बोला—'मैंने अछूत के हाथ का नही खाया। हजार कठिनाइया सही, सब कुछ किया, पर धर्म पर अडिग रहा।'

ऐसी अनेक घटनाएं हैं और अनेक कहानियां। लोक-मानस में धर्म का जो चित्र है, उसे वे हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। ऐसे धर्म-चित्र से तृप्ति न हो, ऐसे लोग भी कम नहीं हैं। मनुष्य अपने आवेगों के उभार में रसानुभूति करता है। उसने धर्म-क्षेत्र को भी उससे अछूता नहीं छोड़ा है। धर्म का स्वरूप है आवेगों का उपशमन। पर क्या ऐसा धर्म आचरण में रहा है?

अपने आपको धार्मिक मानने वाले व्यक्ति में भी भय, शोक, घृणा और विकार उतना ही है, जितना किसी अधार्मिक में है। 'सब जीव समान हैं' के व्याख्याता भेदभाव से भरपूर और 'सब जीव एक ही ब्रह्म की सन्तति हैं' के व्याख्याता क्रूर हों तो सहज ही यह धारणा बन जाती है कि दर्शन का क्षेत्र बुद्धि और व्याख्या ही है।

मैं नहीं समझ सका—आत्मा है, वह पुनर्भवी है, वह कर्म का कर्ता और भोक्ता है, अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे का बुरा होता है, इस धारणा में विश्वास रखने वाला भी बुरा कर्म करते हुए संकोच नहीं करता, तब आस्तिक और नास्तिक की भेद-रेखा क्या है?

२ : धर्म और संस्थागत धर्म

कुछ लोगो का मत है कि धर्म मनुष्य के लिए सदा उपयोगी है, क्योकि वह शाश्वत है। कुछ लोग उसे अनुपयोगी मानते हैं। उनका मानना है कि वह अव पुराना हो गया है, उस पर आवरण आ गए हैं, अव उससे चिपके रहना उचित नही है। क्या हम इस अभिमत को अपना समर्थन दें कि धर्म की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है ? अथवा इस अभिमत की पुष्टि करें कि वर्तमान परिस्थिति मे धर्म हमारे लिए उपयोगी है ?

इस प्रश्न पर जव मैं चिन्तन करता हू तव मेरे सामने धर्म के दो रूप उभर आते हैं—एक **सस्थागत धर्म** और दूसरा **धर्म**। धर्म आकाश की तरह अनन्त, असीम और उन्मुक्त है। उसे जव छोटी-छोटी सीमाओ मे वाध दिया जाता है, तव वह सस्थागत धर्म (सम्प्रदाय धर्म) हो जाता है। मुक्त आकाश पर किसी का अधिकार नही होता और ममत्व भी नही होता। परन्तु उसी आकाश को जव हम कमरो मे वाध लेते हैं, भवन का आकार दे देते हैं, तव उस पर हमारा अधिकार और ममत्व हो जाता है। मुक्त आकाश की शरण मे सव जा सकते हैं किन्तु कमरो मे वधे हुए आकाश मे सव नही आ-जा सकते। वहा प्रवेश निषिद्ध किया जा सकता है। धर्म की स्थिति भी ठीक यही हुई है। वह असीम सत्य है। सवके लिए ग्राह्य और सवके द्वारा अनुमोदित। परन्तु उसे कमरो मे वाधकर, भवन का आकार देकर सीमित कर दिया गया है। इसीलिए धर्म का द्वार सवके लिए

खुला नहीं है। बंद दरवाजे वाला धर्म सीमाबद्ध हो जाता है। जैसे—हिन्दू-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म, ईसाई-धर्म, इस्लाम-धर्म आदि-आदि। इन संस्थागत धर्मों के आस-पास अनगिन रेखाएं खिंच जाती हैं और बाड़े बन जाते हैं। मनुष्य बंट जाता है। मेरे धर्म का आदर करे, पालन करे वह आदमी है और जो मेरे धर्म का स्वागत नहीं करता, वह आदमी नहीं है, ऐसी धारणाएं रूढ़ हो जाती हैं। इसीलिए संस्थागत धर्म से हमारी जनता का बहुत भला नहीं हुआ, और न ही हो पा रहा है। कुछ लोगों ने इन संस्थागत धर्म की निष्पत्तियों के आधार पर धर्म को अनावश्यक ठहराने का प्रयत्न किया है। जीवन की प्राथमिक अपेक्षाओं की पूर्ति में बाधक मान मानसिक मानचित्र से उसे लुप्त करने का प्रयत्न किया है। क्या यह सही करण है? मैं सही और गलत की लम्बी चर्चा में नहीं जाऊंगा। मैं संक्षेप का प्रेमी हूं, इसलिए संक्षेप में इतना ही कहूंगा कि रोटी, कपड़ा और मकान—ये जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं हैं। इनकी पूर्ति में मनुष्य के पुरुषार्थ की कृतकृत्यता नहीं है। उसकी कृतकृत्यता सत्य की खोज और सत्य की उपासना में है। मनुष्य साधारणतः श्रद्धालु होता है। यह अच्छा है किन्तु उसमें शल्य-चिकित्सक भी होना चाहिए। शरीर में श्रद्धा होने का यह अर्थ नहीं कि उसमें हुए फोड़े की शल्य-चिकित्सा न की जाए। श्रद्धा और शल्य-चिकित्सा दोनों समन्वित रहें तो धर्म का शरीर अस्वस्थ नहीं होता।

धर्म की आत्मा विस्मृत क्यों हुई? धर्म का शरीर अस्वस्थ क्यों हुआ? इन प्रश्नों की गहराई में जाने पर मुझे प्रतीत होता है कि साम्प्रदायिक आग्रह से धर्म की आत्मा विस्मृत हुई है और शल्य-चिकित्सा न विपुल श्रद्धा से धर्म का शरीर अस्वस्थ हुआ है।

आज का आदमी शास्त्रों की दुहाई देता है। कोई गीता की, कोई आगमों की, कोई त्रिपिटकों की, कोई कुरान की और कोई बाइबिल की। इस [illegible] चिन्तन में प्रश्न होता है कि [illegible] शास्त्रों में [illegible] क्या यह सब ठीक है? [illegible] और-और [illegible] हैं [illegible] इन शास्त्रों का [illegible] किया है, क्या सब [illegible] है?

जिस सत्य का हमने अनुभव नही किया, साक्षात् नही किया, प्रयोग नही किया, क्या वह मत्य की सरिता अनुभव की ऊचाई से प्रवाहित हो सकती है ? कवि की कल्पनाओ को काव्य की भापा मे दुहराने से हमारा काम चल सकता है पर अध्यात्म के सत्यो को शास्त्र की भाषा मे दुहराने से काम नही चल सकता। सोमरस-पान का यशोगान करने वाला शास्त्र की गरिमा नही बढा सकता। कलह और लडाई की घूनी रमाने वाला अहिंसा के गीत गाकर उससे लाभान्वित नही हो सकता। मैं कई वार कुछ लोगो से पूछ लेता हू—'अहिंसा अच्छी है, अपरिग्रह अच्छा है, इसका तुम्हे कोई अनुभव है ?' उत्तर मिलता है, 'अनुभव तो नही है।' 'तो फिर तुम कैसे कहते हो कि अहिंसा अच्छी है, अपरिग्रह अच्छा है ?' तत्काल उत्तर मिल जाता है, 'अमुक शास्त्र मे लिखा है इसलिए हम कहते हैं।' तव मैं सोचता हू इन्ही धार्मिको के कारण धर्म निस्तेज वना है, अहिंसा और अपरिग्रह की गरिमा कम हुई है। जव-जव शास्त्रीय वाक्यो की दुहाई वढती है और आत्मानुभूति घटती है तव शास्त्र तेजस्वी और धर्म निस्तेज हो जाता है। जव आत्मानुभूति वढती है और शास्त्रीय वाक्यो की दुहाई घटती है तव धर्म तेजस्वी और शास्त्र निस्तेज हो जाता है। धर्म की प्रतिष्ठा चाहने वाले क्या आज कुछ नये सत्य का उद्घाटन कर रहे हैं ? कोई नया तथ्य प्रस्तुत कर रहे हैं ? आज का युग वैज्ञानिक युग है। आज का युग बौद्धिक और तार्किक युग है। इस युग मे अतीत के अन्धकार और भविष्य के गह्वर मे विश्वास करने वाले लोग कम होगे। वर्तमान मे विश्वास करने वालो की सख्या अधिक होगी। इसलिए धर्म को वर्तमान की कसौटी पर कसकर ही प्रस्तुत करना होगा।

आज का युग व्यक्तिवादी युग नही है। यह समाजवाद का युग है। जीवन के सामुदायिक प्रयोग विकसित हो रहे हैं। पहले लोग छोटे-छोटे गावो मे रहते थे। आज कलकत्ता और वम्वई जैसे विशाल नगर वन गए हैं। पहले लोग व्यक्तिगत सवारी—ऊट, घोडो की—करते थे। आज रेल आदि की सामूहिक सवारी होती है। सामूहिक व्यापार, सामूहिक कृषि

कोरी उपासना धर्म का छिछला प्रयत्न है। आध्यात्मिकता और नैतिकता के साथ सम्बद्ध उपासना मे धार्मिक प्रयत्न की गहराई आ जाती है। एक आदमी कुआ खोदने लगा। पानी पचास हाथ की गहराई मे था। उसने एक जगह पाच हाथ का गढा खोदा। पानी नही निकला, फिर दूसरा गढा खोदा, वहा भी पानी नही निकला, फिर तीसरा खोदा। इस प्रकार उसने दस गढे खोद डाले, पर पानी नही निकला। तव निराश होकर बैठ गया। धर्म का छिछला प्रयत्न भी निराशा पैदा करता है। यदि वह एक जगह ही पचास हाथ का गढा खोद लेता तो पानी निकल आता। उपासना और आचार की सयुक्त गहराई के विना आनन्द का स्रोत नही निकलता। योगेन्द्ररस के साथ स्वर्ण न हो तो वह निकम्मा है। उपासना के साथ आचार-शुद्धि न हो तो उसकी उपयोगिता कम हो जाती है।

आज एक ऐसे धर्म का उदय अपेक्षित है, जो सदर्भ तथा विशेषणहीन हो। आकाश की भाति उसकी शरण मे सब हो पर वह किसी का भी न हो। मेरी समझ मे किसी का नहीं होना ही धर्म का होना है।

३ : धर्म की आत्मा : एकत्व या समत्व

मैं देखता हूं एक ओर हमारे सामने विराट विश्व है और दूसरी ओर बहुत छोटा-सा व्यक्ति। आज का बहुत सारा चिन्तन विराट् की ओर जा रहा है, सामुदायिकता की परिक्रमा कर रहा है। जो भी सोचा जाता है, वह व्यापक स्तर पर सोचा जाता है। परन्तु ऐसा होने पर भी समस्या खत्म नहीं हुई है। मैं देखता हूं कि जितनी समस्याएं विराट्-विश्व की हैं, उतनी ही सब व्यक्ति की हैं। जो पिण्ड में है, वह ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है, वह पिण्ड में है। इसकी सचाई में सन्देह करने का कोई कारण मुझे नहीं लगा। हम कोरी सामुदायिक चिन्ता या कोरी व्यक्ति-चिन्ता कर एकांगी हो जाते हैं और यह एकांगिता की बीमारी आज सर्वत्र व्याप्त है। सर्वांगीण दृष्टिकोण यह हो सकता है कि हम समुदाय की चिन्ता करते समय व्यक्ति को विस्मृत न करें और व्यक्ति-चिन्ता में समग्र समुदाय की स्मृति बनाए रखें।

भगवान् महावीर का एक सिद्धान्त है—'जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वही एक को जानता है।' हमारी समस्याओं का समाधान इसीलिए नहीं मिल रहा है कि हम एक को भी नहीं जानते। एक परमाणु को जानने के लिए जगत् की सभी वस्तुओं को जान लेना अनिवार्य हो जाता है। परमाणु से भिन्न सभी वस्तुओं से उसका सादृश्य-असादृश्य तथा सम्बन्ध-असम्बन्ध का ज्ञान किए बिना परमाणु का

पूरा ज्ञान हो नही सकता। इसीलिए एक परमाणु के विश्लेषण मे सृष्टि के असख्य नियम जान लिए जाते हैं।

आज हमारा ध्यान विस्तार पर अटक गया है। सक्षेप को जानने की रुचि हममे नही है। उपनिषदों मे कहा गया है—**जो नानात्व को देखता है, वह मौत से भी भयकर स्थिति की ओर जा रहा है।** एक को यानी व्यक्ति को जाने विना नानात्व को यानी समाज को जानने की वात सचमुच भयकर होती है।

व्यक्ति की समस्याओ के तीन वर्ग हैं—१ शारीरिक, २ सामाजिक, ३ मानसिक और आत्मिक। शारीरिक समस्याओ—जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ—की पूर्ति के लिए सभ्यता के आदिकाल मे ही अर्थसत्ता का अस्तित्व उदय मे आया। अर्थसत्ता के आगमन के साथ एक दूसरी समस्या खडी हो गई। लूट-खसोट, छीनाझपटी शुरू हुई। सवल निर्वल को आतकित करने लगे। इस सामाजिक समस्या को सुलझाने के लिए राज्यसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ।

अर्थसत्ता से उत्पन्न समस्याओ को सुलझाने के लिए राज्यसत्ता पनपी किन्तु वह भी पवित्र न रह सकी। राज्यसत्ता की उच्छृखलता पर अकुश लगाने के लिए नैतिक सत्ता या धर्मसत्ता की अपेक्षा हुई। धर्मसत्ता के आविर्भाव का एक कारण व्यक्ति के अन्तर् की आकुलता भी है।

इन सत्ताओ का प्रादुर्भाव होने पर भी व्यक्ति की समस्याए सुलझी नही। व्यक्ति आज भी गरीव है, अभाव से ग्रस्त है। वह सामाजिक सहयोग से आज भी वचित है। उसकी चेतना आज भी कुण्ठित है। इसका हेतु क्या है ? मेरी समझ मे हेतु अस्पष्ट नही है। व्यक्ति के समाधान के लिए जिन सत्ताओ के गले मे वरमाला डाली थी, वे स्वय समस्या वन गई हैं। मुझे एक पौराणिक कहानी याद आ रही है। एक चूहे ने तपस्या कर शकर से वरदान प्राप्त किया और वह विल्ली वन गया। वह विल्ली के डर से विल्ली वना पर कुत्ते का डर अव भी वना हुआ था। वह वर प्राप्त करते-करते विल्ली से कुत्ता, कुत्ते से चीता, चीते से शेर और शेर से मनुष्य

मुकदमा जीतना चाहते हैं। ऐसा चाहने वाले धर्म के द्वारा जिसे सुलझाना चाहिए उसे नही सुलझाकर कुछ अन्य ही सुलझाना चाहते हैं। कितना अच्छा हो, ऐसा चाहने वाले लोग किसी कुशल व्यापारी, डॉक्टर और वकील की शरण मे चले जाएं। इन समस्याओ के समाधान का धर्म से सीधा सम्बन्ध नही है किन्तु अधिकाश लोग ऐसी ही समस्याओ को सुलझाने के लिए धर्म का उपयोग कर रहे हैं।

हमने धर्म के नाम और रूप को पकडा है। हमारी दुर्बलता है कि आखें वाहर की ओर देखती हैं, कान वाहर की सुनते हैं। फलत हम रूप और नाम की ही प्रतिष्ठा करते है।

हम एक साधु के पवित्र जीवन का सम्मान करना नही जानते। हम आकार का सम्मान करना जानते हैं। जैन-साधु के रूप को देख एक वैष्णव का सिर श्रद्धा से नही झुकता है और एक वैष्णव साधु के रूप को देख एक जैन का सिर श्रद्धा से नत नही होता है। इसका कारण आकार की प्रतिष्ठा है, प्रकार की प्रतिष्ठा से हम अपरिचित है। आकार के नीचे प्रकार दव जाता है। हमारी दृष्टि नाम और रूप की दीवार के इस पार तक ही पहुचती है, उस पार तक उसकी पहुच नही है।

कहा जाता है कि धर्म के कारण युद्ध हुए। मैं इस उक्ति-प्रवाह को वरावर चुनौती देता रहा हू। मेरे पक्ष की स्थापना यह है कि युद्ध धर्म के कारण नही हुए, किन्तु नाम और रूप के कारण हुए है। धर्म की आत्मा है एकात्मकता। धर्म की आत्मा की हत्या किए विना युद्ध लडा ही नही जा सकता। वेदान्त का सिद्धात है—सव जीवो का मूल स्रोत एक है। जैन दर्शन का सिद्धात है—सव जीव समान हैं। यह सैद्धातिक एकत्व या समत्व की अनुभूति यदि मनुष्य के व्यवहार मे अनुस्यूत होती तो क्या एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से लड सकता ? क्या एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोपण कर सकता ? क्या एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से घृणा कर सकता ? यह लडाई पद, शोपण और घृणा, अनेकता और विपमता की भूमिका पर पनप रही है। एक आदमी दिनभर कठोर श्रम कर धन कमाता है। सारे परिवार के

लोग उसका उपभोग करते हैं। पर उनके मन में कोई शिकायत नहीं होती। एक भद्र पति अपनी पत्नी से यह शिकायत नहीं करता कि मैं कमाता हूं और तुम बैठी-बैठी खाती हो। परिवार के साथ एकत्व होता है, इसलिए ऐसी शिकायत का अवसर ही नहीं आता। शिकायत वहां होती है, जहां अनेकता होती है। क्या कोई राज्यकर्मचारी अपने लड़के से रिश्वत लेता है? क्या कोई दुकानदार अपने लड़के को धोखा देता है? यह रिश्वत और यह धोखादेही वहीं होती है, जहां एकत्व की अनुभूति नहीं है।

धर्म की आत्मा है सबके साथ एकत्व या ममत्व की अनुभूति। इसका जितना तादात्म्य होता है, उतना ही व्यक्ति के जीवन में धर्म का उदय होता है। चिन्तन की इस भूमिका पर देखता हूं तब मुझे लगता है कि हमने धर्म के कल्पवृक्ष की आत्मा का स्पर्श नहीं किया, केवल उसका वल्कल ओढ़ा है। यह स्पर्श समुद्र के किनारे रेत में पड़ी सीपियों, घोंघों और केकड़ों का है, उसके अन्तस्तल में छिपे रत्नों का नहीं है। ऐसी स्थिति में हम करें क्या? महर्षि टाल्स्टॉय ने यही प्रश्न खड़ा किया था कि हम करें क्या?

परिस्थिति की जटिलता से मुक्ति पाने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थ से परिस्थिति के चक्र को घुमाया जा सकता है। परन्तु भारतीय लोग धर्मवाद में सीमा से अधिक विश्वास कर बैठे हैं। करोड़ों लोग भाग्य-भरोसे या राम-भरोसे जी रहे हैं। न जाने कितने लोग भाग्य के भरोसे बैठकर दुःख के भंवर में फंस गए हैं और फंसते जा रहे हैं। जो होना है वही होगा और जो भाग्य में लिखा है, वही होगा—इन दो धारणाओं ने भारतीय जीवन को जितना छिन्न-भिन्न किया है, उतना किसी भयंकर भूचाल और तूफान ने भी नहीं किया। जिसमें अपना पुरुषार्थ नहीं है, उसे दूसरा कौन सहारा देगा? और क्यों देगा? मैं आपको एक कहानी सुनाऊं, बहुत मार्मिक और बहुत हृदयवेधी।

एक चोर चोरी करने गया था। घरवाले जाग गए। हल्ला किया। आस-

पास के लोग जाग उठे। चोर भागा। आगे-आगे वह भाग रहा था। पीछे-पीछे लोग दौड रहे थे। इस दौड मे पुलिस भी उसका पीछा करने लगी। वह दौडता-दौडता थक गया। कही छिपने को कुछ नही मिला। जगल मे एक देवी का मदिर था। वह उस मन्दिर मे चला गया।

उस प्रदेश मे देवी की वहुत वडी प्रभावना थी। हज़ारो लोग उसकी पूजा किया करते थे। 'वहा जाकर कोई भी निराश नही लौटता,' यह जन-प्रवाद निरन्तर फैल रहा था। मन्दिर के प्रागण मे पहुच चोर कुछ आश्वस्त हुआ। उसने देवी को प्रणाम किया। वह भक्ति-भरे स्वर मे वोला—मा! मुझे वचा, मैं तेरी शरण मे हू। देवी उसकी विनम्रता से प्रसन्न हो गई। वह वोली—'जव तुझे पकडने आए तव हुकार कर देना, फिर कोई भी तेरे सामने नही आ सकेगा।'

चोर—'मा! डर के मारे मेरा गला रूध गया है, हुकार मैं नही कर सकता।'

देवी—'जो तुझे पकडने आए, उसके सामने आख उठाकर देख लेना, फिर तुझे कोई भी नही पकड सकेगा।'

चोर—'मा! डर के मारे मेरी आखें पथरा गई हैं, मैं आख उठाकर सामने नही देख सकता।'

देवी—'अच्छा, मन्दिर के किवाड वन्द कर लेना, फिर तुम नही पकडे जा सकोगे।'

चोर—'मा! तुम कहती हो, वह ठीक है पर डर के मारे मेरे हाथ मठिया गए हैं, मैं किवाड वन्द नही कर सकता।

देवी—'जा' मेरी प्रतिमा के पीछे छिप जा।'

चोर—'मा! वहुत ठीक कहती हो पर डर के मारे मेरे पैर स्तब्ध हो गए है, मैं चल नही सकता।'

देवी ने क्रुद्ध स्वर मे कहा—'तो ऐसे निर्वीर्य और निकम्मे आदमी की सहायता मै भी नही कर सकती।'

सफलता के लिए हमे नये पुरुषार्थ की आवश्यकता है। आइए, हम

एक नया पुरुषार्थ करें और सर्वप्रथम अपनी धर्म-सम्बन्धी धारणाओं का परिष्कार और नये सम्बन्धों या अनुबन्धों की सृष्टि-सरचना करें।

अर्थसत्ता की फलोपलब्धि ऐश्वर्य है। उसके साथ सहानुभूति और सवेदनशीलता का अनुबन्ध होना चाहिए। इससे शोषण और सग्रह—दोनो वृत्तियो पर अकुश लगता है।

राज्यसत्ता की फलोपलब्धि अधिकार है। उसके साथ आत्मानुशासन का अनुबन्ध होना चाहिए। इससे अधिकार का उच्छृखल उपयोग नही होता।

धर्मसत्ता की फलोपलब्धि है पवित्रता। उसके साथ नैतिक अनुबन्ध होना चाहिए। धार्मिक की दृष्टि केवल परलोक की ओर दौडती है, वर्तमान जीवन की ओर कम दौडती है। धर्म नही करने से परलोक के बिगडने का डर रहता है पर अनैतिक व्यवहार करने मे परलोक बिगड जाएगा, यह डर नही रहता। एक दिन माला-जप नही होता तो मन मे ग्लानि का अनुभव होता है और सोचते हैं कि आज का दिन निकम्मा चला गया। किन्तु अनैतिक व्यवहार करने मे न ग्लानि का अनुभव होता है और न दिन की व्यर्थता प्रतीत होती है। क्योकि वे इस धारणा मे जकडे हुए हैं कि दो घडी धर्म करने मे लाखो पाप धुल जाते हैं। आज के धार्मिक से लोग शकित हैं। उसके बाहरी और भीतरी रूप मे सामजस्य नही है। उसका खण्डित व्यक्तित्व धर्म के प्रति जन-मानस में सद्भावना उत्पन्न करने का हेतु नही बन रहा है। धार्मिक और अधार्मिक, आस्तिक और नास्तिक के व्यवहार मे कोई लक्ष्मण रेखा नही रही है। धार्मिक के लिए यह गम्भीर चिन्तन का विषय है। धर्मसत्ता के शक्ति-सवर्धन का एक ही मार्ग सूझ रहा है— वह है एकत्व या समत्व की अनुभूति का विकास और धर्म के साथ नैतिकता का अनुबन्ध।

४ : धर्म का पहला प्रतिबिम्ब: नैतिकता

धर्म शब्द बहुत पुराना है। जन-मानस उससे बहुत परिचित है। भारतीय मानस और अधिक परिचित है। वह जितना धर्म शब्द से परिचित है, उतना अन्य किसी शब्द से नही है। मुझे लगता है अति परिचय के कारण ही शायद धर्म से लगाव या तादात्म्य कम हो गया है। पुराने ज़माने मे हम धर्म को श्रद्धा के सन्दर्भ मे स्वीकार करते थे। आज के वैज्ञानिक युग मे प्रयोग के सन्दर्भ मे उसे स्वीकार किया जा सकता है। धर्म के सम्बन्ध मे दो विचारधाराओ के लोग हैं। वे दोनो दो छोर पकडकर खडे हैं। रस्सी के एक सिरे पर वे लोग हैं जो परम्परा मे चिपके रहना चाहते हैं। परम्परा या वशानुक्रम से धर्म का जो रूप प्राप्त हुआ है उसमे परिवर्तन या सशोधन करना नही चाहते। धर्म की शल्य-चिकित्सा उन्हे प्रिय नही है। रस्सी के दूसरे सिरे पर वे लोग हैं जो धर्म को सर्वथा अस्वीकार करते है। ये दोनो धाराए सतुलन स्थापित नही कर सकती।

धर्म का आनुवशिक गुण के रूप मे स्वीकार हमे इष्ट नही है तो उसका अस्वीकार सर्वथा अनिष्ट है। मैं आपसे पूछना चाहता हू, क्या धर्म का अस्वीकार किया जा सकता है? जिस व्यक्ति मे यत्किचित् चैतन्य है, जो एकता, समता और प्रेम की भाषा मे सोचता है, वह धर्म को अस्वीकार कर ही नही सकता। सस्थागत धर्म और धर्म के पार्थक्य को समझे बिना कुछ लोग इस आत्म-भ्रान्ति मे उलझ जाते है कि हम धर्म को स्वीकार नहीं

करते। समाज की निष्पत्ति चेतना और अध्यात्म के द्वारा ही हुई है। व्यक्ति एकाकी था, तब वह जगली पशु की तरह निरकुश भटकता था। जब उसने समूह बनाकर रहना प्रारम्भ किया, तब उसमे अहिंसा की पहली किरण फूटी थी। इस भाषा को बदलकर भी कहा जा सकता है कि जिस दिन व्यक्ति मे अहिंसा की पहली किरण फूटी थी, उस दिन उसने समूह बनाकर रहना प्रारम्भ किया। सामाजिकता का पहला सूत्र है—दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति और मर्यादा का निर्वाह। आप अपने घर मे प्रवेश करते है, दूसरे के घर मे नही। अपनी पगडी सिर पर रखते हैं, किसी दूसरे की पगडी उठाकर सिर पर नही रखते। यह व्यक्ति की मर्यादा है, भले कहिए, समाज की मर्यादा है। मर्यादा व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के सुख मे बाधा डालने से रोकती है। यह मर्यादा कहा से आयी? इस प्रश्न के उत्तर मे मैं कहूगा—इसका उत्पत्ति-स्रोत धर्म की भावना है, अहिंसा और अपरिग्रह की भावना है। यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, यह खाद्य है, यह अखाद्य है, यह अमृत है, यह विष है, यह घास है, यह अनाज है—यह पृथक्करण हमारा विवेक है। इसका प्रवाह धर्म-चेतना के धरातल से प्रवाहित होता है।

धर्म अपनी आधार-भित्ति—आध्यात्मिकता से बिछुडकर आरोपित नियमो की जकड मे आ गया है। जकडा हुआ धर्म चेतना को विकास देने के बदले कुण्ठा देता है। मैं नियमो की उपेक्षा नही करता और न आपको उस मार्ग की ओर ले जाना चाहता हू। आचार्य शकर के शब्दो मे—'जब तक इस पिण्ड मे अविद्योत्थ जीवत्व है तब तक शकर भी विधि और निषेधो का किंकर है।' किन्तु अध्यात्म की प्रेरणा से शून्य कृत्रिम नियमो की कारा मे बन्दी बनना मुझे पसन्द नही है। मैं चाहता हू मेरा धर्म मेरी स्वतन्त्र चेतना की परिणति हो। वह जबरन आरोपित न हो। कोई अपने को हिन्दू मानता है, कोई मुसलमान, कोई ईसाई, कोई जैन, कोई बौद्ध और कोई सिक्ख। इस मान्यता का आधार धर्म-भावना है या वशानुक्रम? वशानुक्रम धर्म का प्रेरणा-स्रोत बन सकता है किन्तु उसकी आत्मा नहीं बन सकता। धर्म की आत्मा अध्यात्म है। जिसमें अध्यात्म की चेतना स्फूर्त है वही

धार्मिक है। फिर वह किसी भी वशानुक्रम या परम्परा से सम्बद्ध क्यो न हो।

कुछ लोग सोचते है, अमुक शासन-पद्धति आ गई तो हमारे धर्म का क्या होगा ? यह चिन्तन धर्म की निष्प्राण सत्ता से निकलता है। यदि धर्म का अस्तित्व तेजस्वी हो तो उसे कोई भी शासन-पद्धति चुनौती नही दे सकती। मैं हू। मेरा अस्तित्व है। तो धर्म का अस्तित्व क्यो नही होगा ? धर्म को अपने अस्तित्व से भिन्न मान लेने पर ही उसके अस्तित्व की सुरक्षा का प्रश्न उठता है। धर्म को अनुपयोगी मानने वाली शासन-पद्धति से धर्म की परम्परा को खतरा हो सकता है किन्तु वह भी स्थायी नही होगा। जो शासन आरम्भ मे परम्परा का विघटन करता है, वही मध्यकाल मे उसका सूत्रपात करता है, अन्त मे उसका प्रेमी बन जाता है। हमे जितनी चिन्ता परम्परा की है, उतनी धर्म की नही है। धर्म रहा तो परम्परा अपने आप रह जाएगी। कोरी परम्परा रही और धर्म नही रहा तो वह रहकर भी क्या भला करेगी ? मैं पतझड से कभी चिंतित नही होता क्योकि हर पतझड के बाद वसन्त आता है। मेरी सारी चिन्ता इसमे व्याप्त होती है कि पेड का मूल सुरक्षित रहे।

धर्म की आतमा आनन्द और चैतन्य है। वह धर्म का बहुत ही आकर्षक रूप है। हम उसे कम देख पाते है, क्योकि हम अन्तर्मुखी दृष्टि का उपयोग कम करते हैं। धर्म बाहर मे आया हुआ या स्वीकार किया हुआ नही होना चाहिए। उसका स्रोत अन्तर् मे फूटना चाहिए। कुए मे जल का स्रोत अन्तर् से फूटता है। खोदनेवाले का काम इतना ही है कि वह भूमि के भीतर बहनेवाले जल से बाहरी दुनिया का सम्पर्क स्थापित कर दे। परम्परा या सम्प्रदाय का काम भी इतना ही है कि हर व्यक्ति के अन्तस्तल मे बहनेवाले धर्म के स्रोत मे हमारे स्थूल व्यक्तित्व का सम्पर्क स्थापित कर दे। जिसे अपनी आन्तरिक सम्पदाओ का ज्ञान नही होता, वह समृद्धि मे वचित रह जाता है। जिसे अपने आप पर भरोसा नही होता, वह हतप्रभ और क्षीणबल हो जाता है। बाह्य की स्वीकृति और अन्तर् की अस्वीकृति से अन्तर्द्वन्द्व पैदा होते हैं। ऐसा युग इतिहास मे पागलखानो के विकास का

युग कहलाएगा।

पुरानी पीढी के लोग नयी पीढी की धार्मिक अरुचि से चिंतित है। किन्तु इस चिंता मे जीवट नही है। क्या वे धर्म का ऐसा रूप रूपायित करने को प्रस्तुत हैं, जिससे नयी पीढी धर्म के प्रति आकृष्ट हो सके ?

गाव मे एक नया डॉक्टर आता है—अपरिचित और अनजान। वह एक-दो अच्छी चिकित्सा करता है और समूचे गाव के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। उस आकर्षण के साथ जनता के लाभ का अनुबंध है। हम धार्मिक लोगो के लिए यह चिंतनीय है कि हमारे धर्म के साथ लाभ का अनुबंध है या नही ? धर्म के साथ लाभ का जो अनुबंध है वह सारा का सारा परोक्ष, अत्यन्त परोक्ष है, जो मरने के बाद प्राप्त होता है। महान् जैनाचार्य उमास्वाति ने कहा—'मोक्ष इसी जन्म मे हो सकता है।' जब इस जन्म मे मोक्ष हो सकता है तो स्वर्ग क्यो नही हो सकता ? क्या वह धार्मिक है, जिसे इस जन्म मे स्वर्ग की अनुभूति नही है, मोक्ष की अनुभूति नही है ?

अत्यन्त परोक्षता मे आकर्षण पैदा नही हो सकता। मरने के बाद स्वर्ग पाने का आकर्षण पहले कभी रहा होगा। आज के चिन्तनशील व्यक्ति मे वह नही है। वह जीवन पर धर्म की वातमानिक प्रतिक्रिया देखना चाहता है। हमारी धार्मिक परम्परा वर्तमान की ओर कम ध्यान दे रही है, इसीलिए वह आकर्षण की केन्द्र नही बन रही है। मैं सुदूर भविष्य की चिन्ता नही करने का समर्थन नही कर रहा हू। मैं इस तथ्य पर बल देना चाहता हू कि हम वर्तमान की चिता से विमुख न हो।

आज धर्म की पुन प्रतिष्ठा की आवश्यक अनुभूति हो रही है। धर्म का वह रूप वर्तमान और भविष्य दोनो को लाभान्वित कर सकता है, जिसकी आधार-भित्ति अध्यात्म और फल-परिणति नैतिकता हो।

नैतिकता सापेक्ष शब्द है। समाज सम्मत कर्तव्य की रेखाओ को नैतिकता मान लेने पर उनका स्वरूप कभी स्थिर नहीं होता। देश और काल के परिवर्तन के साथ समाज की नैतिक मान्यताए भी बदल जाती है। ऐसे कार्य बहुत कम मिलेंगे, जिनकी समाज द्वारा कभी निन्दा, कभी प्रशंसा

न हुई हो।

धर्म से प्रतिफलित होनेवाली नैतिकता की कसौटी सामाजिक धारणा नहीं, किंतु व्यक्ति की अपनी पवित्रता होती है। धार्मिक के व्यवहार मे शोषण, उत्पीडन, कुटिलता, दर्प और आवेश नही होता। जिस व्यवहार मे ये नही होते, वह प्रामाणिकता, सचाई और सरलता से ओत-प्रोत होता है। उसी व्यवहार का नाम नैतिकता है। जो जलने पर भी सुवास न दे, क्या हम उसे अगरबत्ती मानेंगे ? जिसके व्यवहार मे धर्म का प्रतिबिम्ब न हो, क्या हम उसे धार्मिक मानेंगे ? जिस प्रकार धुए की अग्नि के साथ व्याप्ति है, उसी प्रकार नैतिकता की धर्म के साथ व्याप्ति है। धुए को देखकर हम परोक्ष अग्नि को जान लेते हैं, वैसे ही नैतिकता को देखकर हम व्यक्ति के अन्तस्तल मे प्रवहमान धर्म की धारा का साक्षात् कर लेते हैं।

मैं यदि ठीक सोचता हू तो मेरा अभिमत है कि **धर्म का पहला प्रतिबिम्ब है नैतिकता और दूसरा प्रतिबिम्ब है उपासना**। इस क्रम का व्यतिक्रम यह सूचित करता है कि हमारी गति मे स्वाभाविकता नही है, प्लुत सचार है, छलाग भरने की चेष्टा है। नीव की मजबूती के बिना खडा किया हुआ प्रासाद क्या लम्बे समय तक टिक सकेगा ? क्या नैतिकता-शून्य उपासना का भव्य-भवन इसे त्राण दे सकेगा ? मैं इस प्रश्न का उत्तर इस भाषा मे देना चाहता हू कि नैतिकता के बिना उपासना का प्रासाद ढह जाएगा और धर्म का अस्तित्व भूगर्भ मे ही सुरक्षित होगा, हमारी दुनिया मे नहीं।

५. अध्यात्म से विच्छिन्न धर्म का अर्थ अधर्म की विजय

एक तोता पिंजरे में बैठा है। वह कुछ बोल रहा है। उसे जो रटाया गया, उसी की पुनरावृत्ति कर रहा है। तोते में स्मृति है पर चिन्तन नहीं है। मनुष्य में स्मृति और चिन्तन दोनों हैं। मनुष्य कोरी रटी-रटाई बात नहीं दुहराता। वह नयी बात सोचता है, नया पथ चुनता है और उस पर चलता है।

एक भैंसा हजार वर्ष पहले भी भार ढोता था और आज भी ढो रहा है। वह हजार वर्ष पहले जिस ढंग से जीता था, उसी ढंग से आज जी रहा है। उसने कोई प्रगति नहीं की है, क्योंकि उसमें स्वतन्त्र चिन्तन नहीं है।

मनुष्य ने बहुत प्रगति की है। वह प्रस्तर-युग से अणु-युग तक पहुंच गया है। वह झोंपड़ी से सौमंजिले प्रासाद तक पहुंच गया है। उसने जीवन के हर क्षेत्र में विकास और गति की है। स्मृति और स्वतन्त्र-चिन्तन की सम्बन्ध-शृंखला परम्परा है। यदि मनुष्य परम्पराविहीन होता तो भैंसे से बहुत अतिरिक्त नहीं होता। मानवीय विकास का इतिहास परम्परा का इतिहास है। अतीत की अनुभूतियों के तेल ने मनुष्य का चिन्तन-दीप जलाया है और उसके आलोक में उसे वर्तमान की अनेक पगडण्डियां उपलब्ध हुई हैं।

कुछ लोग परम्परा का विच्छेदन करना चाहते हैं पर ऐसा हो नहीं

सकता। जिसमे स्मृति है वह ।कोई भी व्यक्ति परम्परामुक्त नही हो सकता। स्मृति और परम्परा मे गहरा अनुवन्ध है। मैं निश्चय की भाषा मे कहू तो मुझे कहना चाहिए कि स्मृति ही परम्परा है।

हम मनुष्य हैं। स्मृति हमारी विशेषता है। हम अतीत से लाभान्वित होना चाहते हैं इसलिए परम्परा से मुक्त नही हो सकते, उसका परिष्कार कर सकते हैं। प्रशिक्षण की यही उपयोगिता है। प्रशिक्षण पशु-पक्षियो को भी दिया जाता है, उनमे पटुता भी आती है पर वे स्वतन्त्र चिन्तन के अभाव मे मनुष्य की भाति पटु नही बन सकते।

एक वन्दर को प्रशिक्षित किया गया। वह राजा की परिचर्या मे रहता था। एक दिन राजा सो रहा था। वन्दर नगी तलवार हाथ मे लिये पहरा दे रहा था। राजा के गले पर मक्खी बैठ गई। वन्दर ने उसे उडाने की चेष्टा की। वह उडी नही तो वन्दर ने क्रोध मे आकर उस पर तलवार चला दी। राजा का गला लहूलुहान हो गया। वन्दर के पास शिक्षा थी, पर मनन नही था। वह सन्दर्भ को नही समझता था। मनुष्य सदर्भ को समझता है।

प्रशिक्षण के साथ अपने मनन तथा दर्शन का योग न हो तो वह विकासशील नही वनता। आज तक विकास की जितनी रश्मिया इस भूमि पर आयी हैं, वे सव स्मृति, परम्परा, प्रशिक्षण, मनन और दर्शन के वायुमंडल से छनकर आयी हैं। हम धर्म की चर्चा इसीलिए करना चाहते हैं कि इन रश्मियो के केन्द्र मे धर्म प्रतिष्ठित है। धर्म की उपेक्षा कर मनुष्य विकास से ही विमुख नही होता, किन्तु सामुदायिक जीवन की आधार-भित्ति से भी विमुख हो जाता है। सत्य और विश्वसनीय व्यवहार के विना क्या सामाजिक जीवन का कोई अस्तित्व है? मनुष्य एक-दूसरे के विश्वास पर समुदित हुआ है। इसी विश्वास के आधार पर जीवन का व्यवहार चल रहा है। गोद मे सोए हुए का सिर काटने की मनोवृत्ति यदि व्यापक होती तो मनुष्य अकेला होता, जगली होता, सामाजिक जीवन जीने का अधिकार उसे प्राप्त नही होता। पर ऐसा नही है। मनुष्य मे सत्य की आस्था है।

सत्य के पौधे पर विश्वास के फूल खिले हुए हैं। उन्ही की सुगन्धि से प्रमुदित मनुष्य सामुदायिकता के मच पर अनेक प्रकार के अभिनय कर रहे हैं। सत्य को केन्द्र मे रखे बिना सामाजिक विकास नही हो सकता तो क्या धर्म की उपेक्षा कर वह किया जा सकता है? मैं पूरी निष्ठा के साथ कहूगा कि नही किया जा सकता। धर्म और क्या है? वह सत्य ही तो धर्म है।

एक सस्कृत कवि ने कहा है—**'जिस व्यक्ति के दिन धर्म से शून्य होते हैं, वह लोहार की धौंकनी की भाति श्वास लेता है पर जीता नहीं है।'** यदि यह बात मैं कहता तो मेरी भाषा यह होती कि वह श्वास भी नही ले सकता। क्या भूखे भेडिये की शरण मे जाकर कोई श्वास ले सकता है? क्या हिंसा, क्रूरता, असत्य और चौर्य के साम्राज्य की सृष्टि कर मनुष्य सामाजिक जीवन जी सकता है? यह असभव है तो मैं कहूगा कि धर्म के बिना जीना असभव है। पतझड आता है। पेड के पत्र, पुष्प और फल सभी झड जाते हैं। वसन्त आता है और पेड फिर पत्र, पुष्प और फल से भर जाता है। यह क्रम चलता ही रहता है। धर्म की परिधि मे सत्ता और अर्थ आ जाते हैं, तब एक विचार-क्रान्ति होती है। और धर्म की परिधि सिमट जाती है। फिर उसके अनुशासन की अपेक्षा प्रतीत होती है और उसकी परिधि व्यापक हो जाती है। पतझड मे भी पेड का अस्तित्व सुरक्षित रहता है। धर्म के परिवार का लोप हो जाने पर भी उसका अस्तित्व कभी विलुप्त नहीं होता। एक प्रासाद बनता है और पुराना होने पर टूट जाता है। प्रासाद बनने पर आकाश व्यक्त होता है और उसके ढह जाने पर वह अव्यक्त हो जाता है पर आकाश का अस्तित्व कभी समाप्त नही होता। धार्मिक लोग अच्छे होते हैं, धर्म व्यक्त हो जाता है। धार्मिक लोग बाहरी क्रियाकाण्डो मे उलझ जाते हैं, धर्म अव्यक्त हो जाता है। किन्तु अव्याप्ति और अनस्तित्व एक नही है।

भौतिकवाद का विकास हो रहा है। लोग धर्म को भुलाते जा रहे हैं। मार्क्स ने कहा, धर्म अफीम है, एक मादक द्रव्य है। वह व्यक्ति मे उन्माद

पैदा करता है। इस दर्शन के आधार पर चलनेवाले धर्म को विकास मे सर्वोपरि वाधा मानते हैं। साम्यवादी देशो ने धर्म के उन्मूलन का प्रयत्न भी किया है। किन्तु यह सव धर्म के शरीर पर घटित हो रहा है। धर्म के शरीर को भुलाया जा सकता है, धर्म को नही भुलाया जा सकता। जिसके प्रति श्रद्धा होती है, वह मनुष्य के लिए मादक वन जाता है। राष्ट्रनिष्ठ लोगो के लिए क्या राष्ट्र मादक नही वनता ? भाषानिष्ठ लोगो के लिए क्या भाषा मादक नही बनती ? जाति, वर्ण आदि जो भी मानवीय उपकरण है, वे मनुष्य की श्रद्धा प्राप्त कर मादक वन जाते हैं। हम इस सचाई को क्यो अस्वीकार करें कि धर्म मे मादकता है। प्रस्तुत प्रसग मे एक सत्य को अनावृत करना भी आवश्यक है। यह मादकता धर्म के शरीर मे है, उसकी आत्मा मे नही है। धर्म का शरीर है सम्प्रदाय और उसकी आत्मा है अध्यात्म। शरीर सहज ही प्राप्त हो जाता है। आत्मा की प्राप्ति साधना द्वारा होती है। आत्मा तक पहुचने वाले धार्मिक वहुत कम होते हैं। अधिकाश धार्मिक शरीरसेवी होते हैं। वे साम्प्रदायिक मादकता से वच ही कैसे सकते हैं ? जव अध्यात्म को विच्छिन्न कर मनुष्य धर्म-शरीर से चिपकते हैं, तव धर्म निष्प्राण हो जाता है। फिर आत्मानुशासन और व्यापक दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है। धर्म कृत्रिम नियमो और सकीर्ण दृष्टिकोण का पुज वन जाता है। वैसा धर्म सामाजिक परिवर्तन मे वाधा डालता है। तव सामाजिक क्रान्ति करने वाले उसे सव रूढियो को शरण देने वाला सस्थान मानकर उसके उन्मूलन का प्रयत्न करते हैं। ऐसे रूढ और अध्यात्म से विच्छिन्न धर्म-शरीर के प्रति हमारी कोई निष्ठा नही है। धर्म के क्षेत्र मे वहुत वडी क्रान्ति अपेक्षित है। आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से इसे नेतृत्व दिया है और क्रान्ति के वीज वोए जा रहे हैं।

जन्म से मृत्यु-पर्यन्त धर्म करने वालो मे व्यापक दृष्टि और मैत्री विकसित नही होती। इसका फलित है अध्यात्म की प्रतिष्ठा प्राप्त किए विना धर्म हमारे जीवन मे अलौकिक परिवर्तन नही ला सकता। लौकिक

परिवर्तन के लिए हमारा लौकिक विज्ञान पर्याप्त है। उसके लिए हमें धर्म की शरण में जाने की कोई अपेक्षा नहीं है। प्रभु के नाम की माला जपने वाला किसी दिन माला नहीं जपता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है कि आज का दिन व्यर्थ चला गया। वह अनैतिक और अप्रामाणिक व्यवहार करता है, उसे ऐसी अनुभूति नहीं होती कि आज का दिन व्यर्थ चला गया। धर्म की समझ जीवन में परिवर्तन लाने के लिए नहीं है, किन्तु जीवनगत अशुद्धियों को यथावत् बनाए रखने के लिए है। धर्म का आचरण इसलिए नहीं हो रहा है कि जीवन-व्यवहार की बुराइयां मिट जाए, किन्तु वह इस-लिए हो रहा है कि बुराइयों से प्राप्त होने वाला दोष धुल जाए। एक आदमी आयुर्वेद-विशारद से कह रहा है कि मैं स्वाद-लोलुपता को छोड़ने में असमर्थ हूं। मुझे ऐसी औषधि दो, जिससे खूब खाऊं और बीमार न बनूं। क्या धार्मिक भी इसी भाषा में नहीं सोच रहा है? दो व्यक्तियों के बीच न्यायालय में मामला चल रहा है। दोनों उसे जीतने के लिए धर्म की आराधना कर जाते हैं। जो झूठा है, वह क्या धर्म से अधर्म की, सत्य से असत्य की विजय नहीं चाहता है? यदि चाहता है तो धर्म या सत्य में उसकी आस्था कहां है? उसने धर्म को अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन मात्र मान रखा है।

धर्म जब-जब कामना की पूर्ति का साधन बनता है, तब-तब उसके आसपास विकार घिर आते हैं। विकारों से घिरा हुआ धर्म भूत से भी अधिक भयंकर हो जाता है। भगवान् महावीर ने ऐसे धर्म के खतरे की स्पष्ट चेतावनी दी थी। उनकी वाणी है—'कालकूट विष का पान, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और मन्त्र की विधि जाने बिना साधा हुआ वैताल जैसे खतरनाक होते हैं, वैसे ही विकारों से समापन्न धर्म खतरनाक होता है।' इस प्रकार के खतरनाक धर्म को ही मार्क्स ने अफीम कहा था। अध्यात्म से अनुप्राणित धर्म अफीम या मादक नहीं होता।

अध्यात्म क्या है?

स्वतन्त्रता की अनुभूति इससे आकाक्षा के उत्ताप और बन्धन टूट जाते हैं।

पूर्णता की अनुभूति इससे रिक्तताए भर जाती हैं, शून्य ठोस मे बदल जाता है।

आनन्द की अनुभूति इससे दु ख की परम्परा विच्छिन्न हो जाती है।

इन्द्रिय, मन और बुद्धि हमारे सामने हैं। ये अपने आलोक से आलोकित नही हैं। जो इन्हे आलोकित करता हुआ भी पर्दे के पीछे है, वह अध्यात्म है। स्वतत्रता की माग वही से आ रही है। पूर्णता का स्वर वही से उठ रहा है। आनन्द की उर्मि वही से उच्छलित हो रही है। वटन दवाते ही वल्व प्रकाशित हो उठता है। किन्तु उस प्रकाश का स्रोत वल्व नही है। प्रकाश का स्रोत विजलीघर (पावर-हाउस) है। चैतन्य का स्रोत इन्द्रिय, मन और वुद्धि नही है, किन्तु अध्यात्म है, जो हर व्यक्ति मे अनन्त मागर की तरह लहरा रहा है।

जिस क्षण स्वतन्त्रता की अनुभूति नही है, वह क्षण धर्म के स्रोत मे अनुस्यूत नही है। जिस क्षण मे पूर्णता की अनुभूति नही है, वह क्षण धर्म के स्रोत से अनुस्यूत नही है। जिस क्षण आनन्द की अनुभूति नही है, वह क्षण धर्म के स्रोत से अनुस्यूत नही है। जहा प्रकाश के स्रोत की अनुस्यूति नही है, वहा प्रकाश कैसे होगा ?

६ : दुःख-मुक्ति का आश्वासन

मानवीय प्रवृत्ति का एक ही लक्ष्य है और वह है—दुःख-मुक्ति, विधि की भाषा में सुख की उपलब्धि। प्रत्येक धर्मशास्त्र दुःख-मुक्ति का आश्वासन देता है। जिस पद्धति में दुःख-मुक्ति का आश्वासन नहीं है, उसके प्रति जनता आकृष्ट नहीं हो सकती। किन्तु एक प्रश्न है, धर्म के द्वारा दुःख-मुक्ति का जो आश्वासन मिला है, वह पूरा हो रहा है? यदि हो रहा है तो धर्म के प्रदीप को प्रचण्ड तूफान भी नहीं बुझा सकेगा। यदि वह पूरा नहीं हो रहा है तो यह अनुसन्धेय है कि त्रुटि (१) औषध में है, (२) औषध देने वाले में है, (३) औषध लेने में है या (४) औषध लेने वाले में है?

(१) यदि त्रुटि औषधि में है तो उसे छोड़ कोई दूसरी औषध लेनी होगी।

(२) यदि वह देने वाले में है तो दूसरे डॉक्टर की शरण लेनी होगी।

(३) यदि वह पद्धति में है तो उसे बदलना होगा।

(४) यदि वह लेने वाले में है तो उसकी प्रकृति का परिष्कार करना होगा।

१. धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप में कोई न्यूनता दिखाई नहीं देती। उसका उपासनात्मक स्वरूप एकांगी होने के कारण क्षत-विक्षत हो गया है। नाम-जप चित्त की एकाग्रता का हेतु बन सकता है। शास्त्र-श्रवण चित्त

की एकाग्रता का हेतु बन सकता है। उपासना के अन्यान्य पक्ष भी चित्त की एकाग्रता के हेतु बन सकते हैं। किन्तु जो मानस एकता की अनुभूति (अहिंसा) से अनुस्यूत नही है, क्या वह एकाग्र हो सकेगा ? जिस मानस मे सत्य प्रतिष्ठित नही है, क्या वह एकाग्र हो सकेगा? जो मानस पर-सत्त्व के अपहरण से विरत नही है, क्या वह एकाग्र हो सकेगा ? जो मानस सहज आनन्द (ब्रह्मचर्य) से परितृप्त नही है, क्या वह एकाग्र हो सकेगा ? जो मानस इच्छा की प्रताडना से परिमुक्त नही है, क्या वह एकाग्र हो सकेगा ? वही मानस एकाग्र हो सकता है, जिसमे व्रत की प्रतिष्ठा है। धर्म की वार्तमानिक विकलागता यह है कि उसका निमित्त-पक्ष उपादान-पक्ष से प्रबल हो गया है। उसकी चिकित्सा निमित्त-पक्ष को दूसरा और उपादान पक्ष को पहला स्थान देकर ही की जा सकती है।

२ धर्म के अधिकाश पथ-दर्शक सत्य के प्रति उतने आस्थावान् नही है, जितने अपने सम्प्रदाय के प्रति हैं। इसीलिए धर्म का प्रतिपादन सत्य की शोध के रूप मे कम होता है, परम्परा की पुष्टि के रूप मे अधिक होता है। एक सामाजिक व्यक्ति अपनी अपूर्णता को स्वीकार कर सकता है किन्तु एक धर्मगुरु के लिए ऐसा करना कठिन है। एक सामाजिक विद्वान् नये सत्य का उद्घाटन होने पर अपने प्राचीन अभिमत को बदल सकता है किन्तु एक धर्मगुरु ऐसा करने से झिझकता है। धर्म-प्रतिपादक की वर्तमान कठिनाई यह है कि वह परोक्षानुभूति के प्रामाण्य से अतिमात्र प्रभावित है। उसमे यह परिवर्तन अपेक्षणीय है कि वह आत्मानुभूति की आच मे पका हुआ भोजन ही जनता को परोसे।

३ खभो मे दूरी न हो तो घर का विस्तार नही हो सकता। किन्तु इतनी दूरी नही होनी चाहिए कि जिससे उन पर छप्पर डाला ही नही जा सके। विचार और आचार मे दूरी स्वाभाविक है। यदि वह न हो तो साधना के लिए अवकाश ही नही होता। धर्म की प्रक्रिया विचार और आचार की दूरी को कम करने की है। धर्म का विचार-स्रोत अन्तर्जगत् से फुटा है। बहिर्जगत् की अपवित्रता का प्रक्षालन कर पुन वह अन्तर्जगत् की

और प्रवाहित हो जाता है। अन्तर्जगत् अस्वीकार का जगत् है। जागतिक विचार स्वीकार का विचार है। विचार और आचार की दूरी मिटाने का अर्थ है स्वीकार से अस्वीकार की ओर अथवा संग्रह से असंग्रह की ओर प्रयाण। इस पद्धति का पहला अंग है दुःख की मुमुक्षा, दूसरा है पदार्थ और उसके उपभोग के प्रति अनासक्ति, तीसरा है पदार्थ और उनके उपभोग का संयम। धार्मिक जगत् में दुःख की मुमुक्षा है, पर जिस (अनासक्ति और संयम) से दुःख की मुक्ति होती है, उसका समाचरण नहीं है। इसीलिए धर्म फल नहीं ला रहा है। उससे दुःख कट नहीं रहे हैं। दुःख के कारण आसक्ति और असंयम हैं। कारण को समाप्त किए बिना कार्य की समाप्ति नहीं हो सकती। इसलिए धर्माचरण की पद्धति में अनासक्ति और संयम के अभ्यास की मुख्यता अनिवार्य है।

४ धर्म एक आनुवंशिक गुण बन गया है। फलतः धार्मिक को धर्म स्वतन्त्र विवेक से प्राप्त नहीं है, किन्तु वंशानुक्रम से प्राप्त है। पुराने युग में वैश्य का लड़का वैश्य का धंधा करता था और क्षत्रिय का लड़का क्षत्रिय का धंधा करता था। वैसे ही धार्मिक उसी धर्म का अनुपालन करता है, जो उसके पिता द्वारा अनुपालित है। व्यवसाय की परम्परा अब बदल चुकी है। व्यापारी का पुत्र आज डॉक्टर बन जाता है, इंजीनियर बन जाता है, और भी अपनी रुचि के अनुकूल व्यवसाय चुन लेता है। धार्मिक को इतनी स्वतन्त्रता नहीं है या अपनी स्वतन्त्रता का वह इस क्षेत्र में उपयोग नहीं कर रहा है। मैं इस पक्ष की स्थापना नहीं कर रहा हूँ कि धार्मिक वही हो सकता है, जो अपने पैतृक धर्म का परिवर्तन करता है। किन्तु इस पक्ष की स्थापना मुझे अवश्य प्रिय है कि धार्मिक व्यक्ति अपने पैतृक धर्म को विवेक और अनुभूति की कसौटी से परख कर ही उसे स्वीकार करे।

धर्म, धर्म के प्रतिपादक, धर्म की पद्धति और धार्मिक—इन चारों तत्त्वों में पुनर्विचार तथा देश-कालानुरूप परिवर्तन और धर्म के निर्मल अंश में मिले हुए कीचड़ का शुद्धीकरण करना ही धर्मक्रान्ति है। इसके होने पर ही धर्म अपने दुःखमुक्ति के आश्वासन को पूर्ण कर सकता है।

७ : धर्म की कसौटी

आज मेरी दृष्टि के सामने तीन शब्द नाच रहे हैं—प्रेक्षा, परीक्षा और प्रयोग। पहले का सम्बन्ध दर्शन से है, दूसरे का तर्कशास्त्र से और तीसरे का विज्ञान से। प्रेक्षा आत्मानुभूति का दर्शन है। जिसकी आतरिक चेतना जागृत हो जाती है, वह सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती दृश्य को देख लेता है। आज की भाषा मे हम बुद्धि-व्यायाम को दर्शन कहते हैं। किन्तु वास्तविक अर्थ मे वह दर्शन नही है। जहा दृश्य व्याप्ति या तर्कशास्त्रीय नियमो के माध्यम से ज्ञात होता है, वह दर्शन नही हो सकता। दर्शन मे दृश्य और द्रष्टा का सीधा सम्पर्क होता है, किसी माध्यम के द्वारा नही होता। ऐसा क्यो होता है? इसकी व्याख्या का प्रयत्न होता है, तब हम तर्कशास्त्र की परिधि मे आ जाते हैं। दार्शनिक जगत् मे ज्ञान है, अनुभूति है पर भाषा का प्रयोग नही है। भाषा माध्यम है और उसका प्रयोग परो क्षानुभूति के जगत् मे ही होता है। तर्कशास्त्र का क्षेत्र परोक्षानुभूति या माध्यम द्वारा होने वाला ज्ञान है। तर्कशास्त्र और विज्ञान पढाए जा सकते हैं, किन्तु दर्शन पढाया नही जा सकता। वह व्यक्ति की अपनी ही चैतमिक निर्मलता या अनावरणता से उपलब्ध होता है। इस सदर्भ मे मुझे यही कहना चाहिए कि प्रेक्षा की व्याख्या साधना के द्वारा ही की जा सकती है और वह उसी के द्वारा जानी जा सकती है। इस प्रसग मे यह उक्ति कितनी चरितार्थ होती है—**गुरोस्तु मौन व्याख्यान शिष्यास्तु छिन्नसशया।**

जहा गुरु का मौन व्याख्यान और शिष्यों की मौन उपासना होती है, वहा दर्शन मुखर हो उठता है। भगवान् महावीर ने इसी अनुभूति के स्वर मे कहा था—जो देखता है, उसके लिए शब्द नहीं है। इसी सत्य को मैं इस भाषा मे प्रस्तुत करता हू कि शब्द उसी के लिए हैं, जिसका सत्य के साथ सीधा संपर्क नहीं है। आज हम शब्द के माध्यम से सत्य की जिज्ञासा कर रहे हैं और वह इसलिए कर रहे हैं कि हमे प्रेक्षा प्राप्त नहीं है। संप्रति हमारे सामने दो ही धरातल हैं—एक परीक्षा का और दूसरा प्रयोग का। प्रेक्षा के धरातल की संप्राप्ति हमारे लिए असम्भव नही है। वह तदनुकूल साधना और पुरुषार्थ के अभाव मे असभव बन रही है। ध्यान की विशिष्ट भूमिका प्राप्त होने पर प्रेक्षा का द्वार अनायास उद्घाटित हो जाता है।

परीक्षा तर्कशास्त्रीय पद्धति है। उसका मुख्य आधार व्याप्ति है। जहा धुआ था वहा अग्नि थी—यह एक व्यक्ति ने देखा और अनेक व्यक्तियों ने देखा, सर्वदेश और सर्वकाल मे देखा, जहा देखा वहा ऐसा ही मिला। इसलिए धूम और अग्नि के साहचर्य का नियम बना लिया गया। इसी का नाम व्याप्ति है। उसके आधार पर हम दृष्ट साधन से अदृष्ट साध्य का ज्ञान कर लेते हैं—दृष्ट धूम के द्वारा अदृष्ट अग्नि को जान लेते हैं।

प्रयोग वैज्ञानिक पद्धति है। इस पद्धति मे परीक्षा का भी उपयोग किया जाता है। किन्तु इसमे केवल परीक्षा के लिए ही अवकाश नहीं है। इसमे प्रायोगिक विधि मे परिवर्तन की प्रक्रिया और उसके कारणों का भी विश्लेषण किया जाता है।

वर्तमान मे परीक्षा और प्रयोग, ये दोनो पद्धतिया धर्म के क्षेत्र मे व्यवहृत नहीं हैं। उसका आचरण प्रायः पूर्व-मान्यता के आधार पर चल रहा है। पूर्व-मान्यता का उपयोग नहीं है, ऐसा मैं नहीं कहता। तर्कशास्त्र और विज्ञान दोनो क्षेत्रो मे उसका उपयोग है। तर्कशास्त्रीय मर्यादा मे पूर्व-मान्यता (सिद्धान्तसिद्ध पक्ष) को स्वीकृत किए बिना वाद और प्रतिवाद का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। वैज्ञानिक भूमिका मे पूर्व-मान्यता को स्थान

दिए विना प्रयोग का द्वार ही नही खुलता। एक तर्कशास्त्री पूर्वमान्यता से चिपके नही रह सकता। साधन के द्वारा साध्य की सिद्धि हो जाने पर वह विकल्पसिद्ध पक्ष से हटकर प्रमाणसिद्ध पक्ष की परिधि मे चला जाता है। एक वैज्ञानिक प्रयोगसिद्ध भूमिका मे पहुचकर पूर्व-मान्यता को छोड देता है। वैसाखी मानवीय शरीर का अग नही है। वह मात्र उपकरण है। पैरो की अशक्तिदशा मे मनुष्य उसे धारण करता है। पैरो की शक्ति प्राप्त होने पर भी क्या उसे धारण करना अनिवार्य है? पूर्व-मान्यता को हम वैसाखी से अधिक मूल्य नही दे सकते। हमने धर्म को एक पूर्व-मान्यता के रूप मे स्वीकार कर रखा है। ऐसा करना हमारी नासमझी नही है किन्तु उसे पूर्व-मान्यता के रूप मे ही स्वीकार किए रहना निश्चित रूप मे नासमझी है। एक वौद्धिक के लिए धर्म इसीलिए आकर्पण का केन्द्र नही वन रहा है, क्योकि वह तर्क के निकप से कमा हुआ नही है। एक वैज्ञानिक के लिए धर्म इमीलिए आकर्पण का केन्द्र नही वन रहा है, क्योकि वह प्रयोगसिद्ध नही है। धर्म उन लोगो के हाथो की गेंद वन रहा है, जो अवौद्धिक और अवैज्ञानिक है। इसीलिए आज की नयी पीढी धर्म को पुराना मानती है। किसी वूढे मे पूछो कि पुराने का क्या मूल्य होता है? उस कपडे मे पूछो जो जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर फेंक दिया जाता है। उस प्रासाद से पूछो जो खण्डहर होने पर धराशायी होने को है। सचमुच आज धर्म पुराना हो गया है। आपको आश्चर्य होगा, धर्म शाश्वत है, फिर पुरातन कैमे? जो अशाश्वत होता है, वह नया और पुराना होता है। शाश्वत नया और पुराना नही होता। क्या धर्म शाश्वत है? जो शाश्वत है, वह धर्म का आन्तरिक रूप—अध्यात्म है। धर्म का वाह्य स्वरूप शाश्वत नही है। उसके परिपार्श्व मे पल्लवित विधि-विधान और नियम शाश्वत नही है। अशाश्वत शाश्वत से प्राण-सचार नही पा रहा है, इमीलिए वह पुराना हो रहा है।

अध्यात्म से अनुप्राणित धर्म मे धारणाशक्ति का विकास हुआ था। आज धार्मिक मे भी यह विश्वास नही है कि धर्म उसे त्राण दे सकता है।

वह धर्म के लिए त्राण की खोज में है। एक व्यक्ति आचार्य तुलसी के पास आया। उसने कहा, 'मैं गीता को भूमिगृह में गाड़ देना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने पूछा—'किसलिए?' उसने कहा—'अणुबम का युग है। अणुबमों का प्रयोग होने पर भी वह सुरक्षित रहेगी।' आचार्यश्री ने कहा—'जब मनुष्य ही नहीं रहेगा तो उसे पढ़ेगा कौन?' सचमुच यह गम्भीर प्रश्न है। कुछ धार्मिक इस चिन्ता में हैं कि साम्यवाद आ गया तो धर्म का क्या होगा? कुछ इस चिन्ता से त्रस्त हैं कि विज्ञान ऐसे रहस्य उद्घाटित कर रहा है, जिनसे धर्म की आस्था विलीन हो जाएगी। इन चिन्ता-भूमिकाओं में धर्म असहाय-सा प्रतीत हो रहा है। वह वास्तव में ही इतना दुर्बल है तो हमें उसकी आवश्यकता नहीं है। जो अपना त्राण अपने आप में नहीं ढूंढ सकता, उसे विश्व के रंगमंच पर रहने का अधिकार नहीं है।

धर्म इतना अत्राण क्यों बना? वह इतना पुराना क्यों बना? इस प्रश्न के उत्तर में तीन तथ्य सामने आते हैं

१ शास्त्रों के प्रामाण्य से धर्म के अस्तित्व का निर्णय।

२ केवल पारलौकिकता के आधार पर धर्म की प्रतिष्ठापना।

३ कर्मवाद या भाग्यवाद की एकांगी दृष्टि का समर्थन।

अहिंसा परम धर्म है, अपरिग्रह महान् धर्म है। ऐसा क्यों है? इसका उत्तर बहुत सरल है—उत्तराध्ययन-सूत्र में ऐसा लिखा है, गीता में ऐसा लिखा है, धम्मपद में ऐसा लिखा है। इन शास्त्रों में लिखा है, इसलिए अहिंसा और अपरिग्रह धर्म हैं। क्या हर धार्मिक को इसका अनुभव है कि अहिंसा और अपरिग्रह महान् धर्म हैं? यदि यह अनुभव है तो वह शास्त्र का प्रामाण्य दिए बिना ही अहिंसा और अपरिग्रह की सच्चाई प्रस्थापित कर सकता है। यदि उसे वैसा अनुभव नहीं है तो वह शास्त्र का प्रामाण्य प्रस्तुत करके भी उनसे स्वयं लाभान्वित नहीं हो सकता। आचार्य सिद्धसेन ने कहा है—'हेतु से अगम्य सूक्ष्म तत्त्व का समर्थन शास्त्र से और हेतुगम्य सत्य का समर्थन हेतुवाद से करना चाहिए। जो ऐसा करता है, वह सत्य का समीचीन व्याख्याता है। जो अहेतुगम्य के लिए हेतु का प्रयोग

करता है, हेतुगम्य सत्य के लिए शास्त्र का प्रयोग करता है, वह सत्य का समीचीन व्याख्याता नही है।'

आचार्य सिद्धसेन ने उक्त प्रतिपादन तर्कवाद के प्रागण मे उपस्थित होकर किया था। मैं उसी तथ्य को अनुभववादी भाषा मे पुनरावृत्त करना चाहता हू कि सूक्ष्म सत्य का समर्थन शास्त्र से और आचरणीय सत्य का समर्थन अनुभव से करना चाहिए। जो ऐसा करता है, वह सत्य की समीचीन व्याख्या प्रस्तुत करता है। जो अनुभवगम्य सत्य की व्याख्या शास्त्रीय प्रामाण्य से करता है, वह प्रत्यक्ष पर परोक्ष का आवरण डाल देता है।

धर्म के साथ जैसे परलोक का प्रश्न जुडा हुआ है, वैसे इहलोक का प्रश्न जुडा हुआ नही है। धार्मिक व्यक्ति धर्म को जितना परलोक के सदर्भ मे देखता है उतना इहलोक के मदर्भ मे नही देखता। वह भविष्य का जितना मूल्य आकता है, उतना वर्तमान का नही आकता। वह इस प्रसग मे 'दीर्घं पश्यत मा ह्रस्व' की नीति को क्रियान्वित कर रहा है। धर्म के पारलौकिक सदर्भ मे समस्याओ का समाधान ढूढना असम्यक् नही है। किंतु सामयिक समस्याओ के सदर्भ को भुलाकर केवल पारलौकिक सदर्भ मे समाधान ढूढना एकागी कोण है।

कर्मवाद का सिद्धात बहुत वैज्ञानिक है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, उसे अमान्य नही किया जा सकता। कर्मवाद को पुरुपार्थ का प्रेरणा-स्रोत होना चाहिए। पर वह वैसा नही है। वर्तमान भारत की गरीबी और दु खद स्थिति का एक हेतु कर्मवादी दृष्टि का विपर्यय है। भाग्यवाद की आधी से पुरुपार्थ की ज्योति बुझ गई है। कर्मवाद का एकागी समर्थन कर धार्मिक वातावरण भी निस्तेज हो गया है। हम धर्मक्रान्ति चाहते हैं और इसलिए चाहते हैं कि धर्म का शाश्वत रूप उदय मे आए। यह कार्य धार्मिक का दृष्टिकोण बदले बिना नही हो सकता। इस वैज्ञानिक युग के धार्मिक मे अपेक्षा है कि वह—

धर्म को शास्त्र के सदर्भ मे कम, प्रयोग के सदर्भ में अधिक समझने का प्रयत्न करे।

धर्म के द्वारा पारलौकिक सुख की कामना को त्यागकर वर्तमान जीवन को स्वच्छ बनाने का यत्न करे।

भाग्यवाद को स्वीकार करते हुए भी उसे पुरुषार्थ का आवरण न बनाए।

धर्म-देवता को श्रद्धा की वेदी से उठाकर परीक्षा और प्रयोग की वेदी पर प्रतिष्ठित करें।

सोने को कसौटी पर कसो, उसका मूल्य घटेगा नहीं। अगरबत्ती को जलाओ, सुगन्ध ही फैलेगी।

८. धर्म का रेखाचित्र

ऐसी शक्ति की अपेक्षा है, जो स्वय प्रकाशित हो और दूसरो को भी प्रकाशित कर सके।

ऐसी शक्ति की अपेक्षा है, जो स्वय असग्रही रहकर सग्रह का नियमन करे।

ऐसी शक्ति अपेक्षित है, जो स्वय अहिसक रहकर हिसा पर नियन्त्रण स्थापित करे।

जिस शक्ति की अपेक्षा है, वह अध्यात्म है।

धर्म हमारे लिए तब तक आवश्यक है जब धर्म और हम दो हैं। हम अपने अस्तित्व के साथ एकरस नही है, तब तक धर्म आवश्यक है, उसके बाद हमे धर्म की कोई अपेक्षा नही है।

नदी पार करने के बाद नौका की क्या आवश्यकता है? साधन एक सीमा तक उपयोगी होते है, सर्वत्र और सर्वदा नही।

जब तक अज्ञात है, तब तक धर्म की आवश्यकता है। विज्ञान की उल्लेखनीय प्रगति के बाद भी जानना बहुत शेष है। न्यूटन ने कहा था—दुनिया मेरे बारे मे कुछ ही सोचती होगी किन्तु मेरी स्थिति उस बच्चे के समान है जो समुद्र के तट पर खडा-खडा सीपियो को बटोर रहा है।

पहले ज्ञान होता है, फिर श्रद्धा होती है। श्रद्धा ज्ञान का घनीभूत रूप है। पानी का घनीभूत रूप बर्फ और दूध का घनीभूत रूप दही है। जो धर्म

को नहीं जानते, वे कहते हैं, धर्म के प्रति हमारी श्रद्धा है। यह कैसे हो सकता है? क्या पानी के बिना बर्फ और दूध के बिना दही हो सकता है?

जो भौतिक उपकरणों से प्राप्त होता है, वही धर्म से प्राप्त हो, उसके अतिरिक्त कुछ न हो तो फिर धर्म को मानने का आधार क्या है?

जब तक मैं हूं तब तक धर्म का अस्तित्व रहेगा। जब मैं अपने अस्तित्व से दूर रहता हूं, तब धर्म नष्ट हो जाता है, किसी साम्यवादी द्वारा नहीं, अपने आप द्वारा।

समाज की दो समस्याएं हैं—आर्त्त और प्रमाद। आर्त्त का उपचार पदार्थ का उत्पादन है। प्रमाद की समस्या का समाधान केवल धर्म है।

धर्म कभी पहले प्रिय रहा हो, आज तो नहीं है। लोहे पर मोर्चा मार गया है। उसमें काटने की शक्ति नहीं है। मकान जीर्ण-शीर्ण हो गया है, उसमें शरण देने की क्षमता नहीं है।

धर्म से जो प्राप्त होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है। दवा स्वास्थ्य-लाभ के लिए ली जाती है। लाभ न होने पर भी कोई आदमी दवा लेता ही जाए, यह क्या समझ?

हम ऐसे ज्ञान से भर जाएं, जिसमें आचार स्वयं प्रस्फुटित हो।

अणुव्रत धर्म तो है किन्तु [illegible] और निर्विशेषण। अणुव्रत अपनी [illegible] सत्ता के कारण धर्म है। [illegible], आच्छादन। सर्दी, गर्मी, धूप, आंधी और आदमी से आदमी का बचाव करने की आवश्यकता अनुभव हुई तब घर का निर्माण हुआ।

अशान्ति और क्लेश से बचाव की आवश्यकता हुई, तब मनुष्य ने धर्म का अनुसरण किया।

[illegible] है, [illegible] गया है। [illegible] का [illegible] है, [illegible]। [illegible] होगी? [illegible] होगी?

धर्म निर्मल, उज्ज्वल और पवित्र है। [illegible] की आवश्यकता

नही है। जो गन्दगी मिली है, उसे निकाल फेंको, फिर पानी अपने आप मे स्वच्छ है। वाहर से आने वाली गदगी को रोको, फिर चेतना अपने आप मे स्वच्छ है।

व्रती वनाया नही जा सकता, व्यक्ति स्वयं वनता है। चमडी हमारे शरीर का व्रत है। यदि वह नही होती तो हमारे स्नायुओ का क्या होता ? छिलका आम का व्रत है। यदि वह नही होता तो आम-रस का क्या होता ? चमडी को कौन कहने गया कि तुम्हे स्नायुओ की रक्षा करनी है ? छिलके को कौन कहने गया कि तुम्हे रस की सुरक्षा करनी है ? प्रकृति की हर वस्तु अपना व्रत साथ लेकर ही उत्पन्न होती है। न जाने क्यो मनुष्य का यह मानस ही ऐसा है, जो अपनी सुरक्षा को साथ लिये उत्पन्न नही होता।

एक आदमी ने पूछा—इस अनैतिकता के युग मे अणुव्रत सफल होंगे ? मैंने कहा—दीए की सफलता अमावस की अघेरी रात मे ही होती है, सूर्य के प्रकाश मे नही। अघेरा कितना ही सघन और कितना ही पुराना हो, दीप जलते ही भाग जाता है।

आचार्य तुलसी के पास कुछ नही है, किन्तु सग्रह करने वाले आचार्यश्री के पास आते हैं। यह सग्रह की असग्रह की ओर गति है। यह अध्यात्म की शक्ति है। ऐसी स्थिति का निर्माण आवश्यक है, जिसमे असग्रह सग्रह की ओर न जाए, अहिंसा हिंसा की धारा मे न मिले।

स्थिति और चलना दोनो अपने-अपने क्षेत्र मे उपयोगी है। हमे स्थिति भी मान्य है, परम्परा भी मान्य है। एक वर्ग स्थिति और परम्परा को समाप्त करना चाहता है, दूसरा उससे चिपके रहना चाहता है। ये दोनो ही ठीक नही हैं। हमे चलने के लिए धरती चाहिए पर पैर धरती से चिपक जाए, क्या यह हमे मान्य होगा ? दीवार का सहारा ले सकते है पर उससे शरीर चिपक जाए, क्या यह हमे मान्य होगा ?

आज शरीर और सम्पदा की भाति धर्म भी पैतृक हो रहा है, पर ऐसा नही होना चाहिए।

९ : क्या धर्म श्रद्धागम्य है ?

एक आदमी हाथ में घड़ा ले समुद्र के तट पर गया। एक ओर समुद्र में जल है, दूसरी ओर घड़ा है। क्या घड़े द्वारा समुद्र का जल ग्राह्य है ? यदि मैं कहूं ग्राह्य नहीं है तो यह कहना सचाई से परे होगा। यदि कहूं ग्राह्य है, तो यह अपूर्ण सत्य होगा। वह ग्राह्य है भी और नहीं भी। समग्रता की दृष्टि से ग्राह्य नहीं है। व्यग्रता की दृष्टि से ग्राह्य है। घड़े में जितनी क्षमता है, उतना वह समुद्र को रिक्त भी कर सकता है।

धर्म बुद्धि के द्वारा ग्राह्य है, यह कहना कठिन है। ग्राह्य नहीं है, यह कहना भी सत्य नहीं है।

धर्म अनन्त है, उसको बुद्धि के द्वारा ग्राह्य मानना घड़े के द्वारा समुद्र को मापना है। अनन्त सत्य का ग्रहण अनन्त ज्ञान के द्वारा ही सकता है। तब यह प्रश्न ही क्यों उपस्थित हुआ—'क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?'

बुद्धि हमारे ज्ञान की एक सीमा-रेखा है। प्राणिमात्र में ज्ञान का अनन्तवां भाग अनिवृत्त होता है। एकेन्द्रिय प्राणी में सुख-दुःख की अनुभूति होती है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में ज्ञान का तारतम्य है। प्राणियों में मनुष्य सबसे अधिक ज्ञान का अधिकारी है। इन्द्रियां मनुष्य के पास हैं तो अन्य प्राणियों के पास भी हैं। मन भी अन्य प्राणियों के पास मिलता है। पर बुद्धि हर प्राणी में नहीं मिलती। वह मनुष्य में ही है। मनुष्य में निर्णायक शक्ति होती है। [illegible] होता

है। जिसको कभी देखा नही, जाना नही, उसको भी मनुष्य ज्ञान मे जान लेता है और देख लेता है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति रही है कि वह अज्ञात को ज्ञात करना चाहता है। अनुसन्धान की परम्परा वर्तमान मे ही नही, हजारो वर्षों से चली आ रही है। इससे अज्ञात की सीमा छोटी होती जाती है और ज्ञात की परिधि वढती जाती है। वैल सौ वर्ष पहले भी भार ढोता था, आज भी ढो रहा है और भविष्य मे भी ढोएगा, क्योकि उसके पास वुद्धि नही है। मनुष्य को निर्णायक वुद्धि प्राप्त है। वुद्धि कर्मजा भी होती है। काम करते-करते व्यक्ति उसमे निपुण वन जाता है। एक व्यक्ति इजीनियर नही है पर ज्ञान वढाते-वढाते वह इजीनियर वन जाता है। सवमे समान ज्ञान नही होता। उसमे भी तारतम्य होता है। अवस्था के साथ-साथ अनुभव भी वढते जाते हैं। वुद्धि के विकास मे तरतमता होने से धर्म जैसे अनन्त सत्य को पकडने मे सव क्षम्य नही होते। एक व्यक्ति धर्म को स्वीकार कर लेता है, दूसरा व्यक्ति कहता है मैं निर्णय करके ही स्वीकार करूगा। पहला व्यक्ति श्रद्धा-प्रधान है और दूसरा वुद्धिजीवी। आज दो वर्ग हो गये हैं। वुद्धिजीवी हर वस्तु को वुद्धि से निर्णय करने के वाद स्वीकारता है। श्रद्धा-प्रधान व्यक्ति हर वस्तु को श्रद्धा से स्वीकारता है। मैं मानता हू, कोई भी श्रद्धा वुद्धिशून्य नही होती।

एक व्यक्ति ने मुझसे पूछा—आप गुरु किसको मानते हैं ? मैंने उत्तर दिया—अपने आपको। फिर प्रश्न आया—यह कैसे, जवकि आप आचार्य-श्री तुलसी को गुरु मानते हैं ? मैंने कहा—मैं गुरु मानता हू, यह सत्य है। पहले मैंने निर्णय लिया था कि वे मेरे गुरुत्व के उपयुक्त हैं। इसमे निर्णायकता मेरी ही रही। शास्त्र अच्छे हैं, इसमे निर्णायकता व्यक्ति की ही होती है। महावीर, वुद्ध और कृष्ण भगवान हैं, वे मानने वालो के आधार पर ही तो हैं। वे कहने नही आए कि हम भगवान हैं। हमारे निर्णय मे से ही उनका प्रामाण्य है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य मनुष्य की वुद्धि मे से ही आता है। श्रद्धालू भी वुद्धि-शून्य नही होता। वह उसी की वात को मानता है, जिसमे उसकी वुद्धि स्थिर हो गई है। वच्चा अपनी माता की वात मानता

है, चाहे वह जो कुछ भी कहे।

श्रद्धा अन्धी होती है, क्या यह सत्य है? अंधा यानी अज्ञान। श्रद्धा हमेशा बुद्धि द्वारा प्रवाहित होती है। जो तीव्र प्रवाह घनीभूत होकर बहता है, वही श्रद्धा है।

ज्ञान के बिना श्रद्धा हो ही नहीं सकती। पानी के बिना बर्फ नहीं होती। दही दूध का ही सघन रूप है। वैसे ही ज्ञान का घनीभूत रूप श्रद्धा है। जहां बुद्धि अभिव्यक्ति में अल्पक्षम होती है, वहां अन्तःस्तल में स्वीकार होता है।

धर्म बुद्धि के द्वारा ही गम्य होता है पर अबुद्धि के द्वारा नहीं।

स्थूल दृष्टि से धर्म का सम्बन्ध श्रद्धा से अधिक है, बुद्धि से कम। गहराई में धर्म का सम्बन्ध बुद्धि के बिना होता ही नहीं। कोई श्रद्धावादी बुद्धिहीन नहीं है और कोई बुद्धिवादी श्रद्धाशून्य नहीं है। ज्ञान और श्रद्धा दोनों ही हमारे मापदण्ड हैं। फिर एक ही प्रश्न क्यों—क्या धर्म बुद्धिगम्य है? दूसरा भी प्रश्न होना चाहिए—क्या धर्म श्रद्धागम्य है?

१० : धर्म और उपासना

धर्म के लिए सबसे बड़ी समस्या उसे संस्थागत रूप मे स्वीकार करना है। जीवन-व्यवहार मे धर्म के सम्बन्ध मे विचार करते समय दो बातें सामने होती हैं

१ उपासनागत धर्म ।

२ आचारगत धर्म ।

उपासनागत धर्म मे समानता का अभाव है क्योंकि उपासना की अनेक पद्धतिया हैं, परन्तु आचारगत धर्म मे समानता है। सामान्य व्यक्ति उपासना को अधिक समझता हुआ धर्म को कम समझता है। लोग कहते हैं कि भक्ति-मार्ग सरल और अच्छा है। एक दृष्टिकोण से यह सही भी हो सकता है, किन्तु वचना की गुजाइश भी इसी मे सबसे अधिक है। व्यक्ति दिनभर के पापो को मूर्ति के सामने जाकर एक वाक्य—'प्रभु मोरे अवगुन चित्त न धरो' मे धो लेना चाहता है। सारी जिन्दगी के पाप-कर्म एक बार गगा-स्नान कर धो लेने की असफल कोशिश करता है। वस्तुत उपासना इसलिए थी कि साधारण व्यक्ति प्रतीक के रूप मे अपना ध्यान केन्द्रित कर सके किन्तु कालान्तर मे वही भक्ति-मार्ग वचना का प्रमुख केन्द्र बना। इसके विपरीत आचार-मार्ग मे इसकी गुजाइश नही है, क्योंकि व्यक्ति की आत्मिक पवित्रता ही उसका आधार है।

उपासना मे आचार-शुद्धि की बात गौण है। आराधना स्वय प्रवचना नही है, किन्तु उसे प्रवंचना का रूप दे दिया गया। गगा-स्नान, मन्दिर,

सत-दर्शन, सेवा आदि उपासना की पद्धतिया विशेष अर्थ के रूप मे ठीक थी किन्तु प्रकारान्तर मे लोगो ने समझ लिया कि चाहे जितना पाप करते रहे, कभी-कभी यह उपासना करके सारे पापो से मुक्त हो लेंगे, उन्हे धो लेंगे। इस प्रकार की धारणाबद्ध उपासना से धर्म का तत्त्व उससे दूर होता जाता है।

स्वतन्त्र कर्तृत्व का विकास नीतिवाद के सहारे हुआ। अणुव्रत के साथ उपासना नही जुडी, चरित्र जुड़ा। यह नितान्त नीति की शृखला से बधा है। मध्यकाल मे मूलत जितना बल उपासना-मार्ग पर दिया गया, उतना चरित्र-मार्ग पर नही दिया गया। उपासना लोगो को प्रिय लगी किन्तु विगत पन्द्रह सौ वर्षों का इतिहास बताता है कि इसने चरित्र का ह्रास हुआ है। दक्षिण से लेकर उत्तर-भारत तक मन्दिरो की स्थिति देखें तो उनमे चित्रित अश्लीलता देखकर अवाक् रहना पड़ता है। उसमे वाममार्गी तान्त्रिको का प्रभाव भी एक कारण रहा किन्तु यह भी आचार-वाद को प्रोत्साहन नही मिलने के कारण ही हुआ।

छाया के लिए आचार को पाल समझें और उपासना को बाधने वाली रस्सी। स्थिति यह हुई कि पाल तो उड गया है और केवल रस्सी रह गई है। उपासना व्यर्थ नही है किन्तु वह आवरण बन गई और जहा चरित्र तक पहुचना था वहा पहुच ही नही सके। मन्दिर, सत-दर्शन आदि से धर्म-भावना जागृत होती है यह इसके मूल मे आशय था किन्तु इसे स्वीकार इस रूप मे किया गया कि मन्दिर मे जाने, सत-दर्शन करने आदि के बाद शेष कुछ भी नही रहा। आचार गौण रहा केवल उपासना मे ही उलझ गए। कुछ ऐसे भी व्यक्ति है जिनका उपासना मे विश्वास नही किन्तु वे चरित्रवान है। वे वस्तुत धार्मिक है। प्रो० गोरा स्वय को नास्तिक मानते है किन्तु गाधीजी उन्हे परम आस्तिक मानते थे, क्योकि प्रो० गोरा का आचार शुद्ध और आध्यात्मिक है।

जहा उपासना पर अधिक बल दिया जाता है वहा चरित्र पर कम ध्यान दिया जाता है। इसके विपरीत आचारवादियो ने उपासना को कम मान

दिया है। उपासना की पद्धतिया अलग-अलग रहेगी किन्तु आचार मे भेद नही होगा। आचार्य निरजन सूरी ने इन्द्रिय, प्राण, मन, पवन और तत्त्व, इनकी समता का नाम अध्यात्म योग कहा है। हम धर्म मे भी प्रियता पसद करते है, अत धार्मिक क्षेत्र मे सगीत, कला, नृत्य आदि को मन्दिरो मे प्रश्रय दिया गया और उपासना का उसे अनिवार्य अग बना लिया गया। आचार मे प्रियता नही है।

मैं मूलत उपासना को धर्म मे बाधक नहीं मानता किन्तु धार्मिक की परिभाषा चरित्र के आधार पर होनी चाहिए। उपासना 'गौण' है और चरित्र मुख्य। उपासना प्रतिक्षण नही हो सकती किन्तु आचार की स्थिति निरन्तर रह सकती है। जैसे एक व्यक्ति जीवन-भर नैतिक, ईमानदार और प्रामाणिक रह सकता है, किन्तु उपासना समय-समय पर ही कर सकता है। यह सम्भव नही कि कोई व्यक्ति दो-चार घटे अप्रामाणिक रहकर पुन अवशिष्ट समय मे चरित्रवान बन जाए और उसे चरित्रवान मान लिया जाए। उपासना दवा है और आचार भोजन। भोजन सर्वदा किया जाता है किन्तु दवा हमेशा नही खायी जाती है। उपासना पुष्टि के रूप मे है किन्तु आचार सहज धर्म है। यदि वह नही रहे तो उपासना का मूल्य नही।

आचार-शुद्धि की पृष्ठभूमि अपनी पवित्रता और दूसरो के प्रति सवेदनशीलता है। अपनी आचारिक पवित्रता मे जग नही लगने देना उपासना की पृष्ठभूमि है। यह सही है कि उपासना धर्म को सवारती है किन्तु मूल-धर्म अर्थात् आचार ही है। अर्थात् उपासना का आवरण रूप हटाकर प्रेरक रूप रखना है। इतना होते हुए भी उपासना को अणुव्रत के साथ नही जोडना है क्योकि ऐसा होने से यह भी सम्प्रदाय बन जाएगा। जिस दिन आचार के साथ उपासना जुडती है उसी दिन से सम्प्रदाय रूप धारण करते हैं।

अब व्यवहार धर्म के प्रश्न को समझें। धर्म व्यवहार मे आना तभी सम्भव होगा जब हम उपासना के दृढ सस्कारो को थोडा झकझोरें। नीचे आचार की भूमि के अभाव मे उपासना तारने वाली नही है। व्यवहार की

प्रकार वे होते हैं

१ जिनका दूसरों पर प्रत्यक्ष प्रभाव न हो।

२ जिनका दूसरों पर प्रत्यक्ष प्रभाव होता हो।

व्यवहार ही धार्मिकता की कसौटी है। प्रामाणिकता हमारा व्यवहार-गत धर्म है, क्योंकि उसकी आस्था बन गई है कि ऐसा न करना आत्म-पतन है। व्यवहार की चुनौती को जब तक धार्मिक स्वीकार नहीं करेगा तब तक अन्य को कार्य की प्रेरणा नहीं मिल सकेगी और न धर्म का तेजस्वी रूप ही स्पष्ट होगा। उपासना मार्ग के स्वरूप को थोड़ा अलग करके और स्वयं में अध्यात्म-जागरण से ही धर्म व्यवहारगत हो सकता है। उसके बाद धर्म का उपदेश देने की जरूरत नहीं रहेगी।

भारतीय चिन्तन विगत शताब्दियों में कुंठित हो गया, पतन नया उतना कम आया है। आचारहीन उपासना हमेशा खतरनाक है। आज नया चिन्तन आ रहा है जिसे रोका भी नहीं जा सकता। कोरी उपासना के आधार पर कोई भी धर्म नहीं टिक सकता।

११ : धर्म की परिभाषा

धर्म का इतिहास बहुत पुराना और दीर्घकाल तक रहने वाला है। जीवन और मृत्यु के रहस्य जब तक रहेंगे तब तक धर्म रहेगा। धर्म को समाप्त करने का प्रयास करने वाले थक गए हैं और इसके विपरीत धर्म का प्रचार अधिक ही हुआ है। रूस पिछले पैंतीस वर्षों से धर्म नष्ट करने का प्रयास करता रहा है किन्तु अब वहा का सत्तारूढ दल यह स्वीकार कर चुका है कि अनेक प्रयत्नो के बावजूद धर्म कम होने की अपेक्षा बढा है। रूस मे इन पिछले पैंतीस वर्षों मे धार्मिक श्रद्धा बढी है।

धर्म मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अज्ञात के विषय मे चिन्तन करने मे धर्म से मनुष्य को सहारा मिलता है। धर्म हमारी आत्मा की पवित्रता है अर्थात् कषाय-मुक्ति या राग-द्वेष से मुक्त होना धर्म है। शेष सारा प्रपच है। अपने स्वभाव मे रहना धर्म है। धर्म के कारण विभीषिका, युद्ध और हत्याकाड नही हुए हैं। जहा अतिरिक्त मूल्य होता है उसके आसपास लडाइया होती हैं। जैसे आज राजनीति का अतिरिक्त मूल्य बढा है, फलत उसके लिए लडाइया होती हैं। इसी प्रकार पहले धर्म का अतिरिक्त मूल्य था अत उसके आस-पास लडाइया हुई।

धर्म और उसका सस्थान ये दो बातें हैं। धर्म अरूप और अमूर्त है किन्तु मनुष्य मूर्त चाहता है। मनुष्य ने ज्ञान का मूर्त पुस्तकें, काल का मूर्त घडिया और भगवान् का मूर्त प्रतिमा को बना लिया। यही धर्म के साथ

हुआ है। उसने धर्म को भी एक रूप दिया है। यहीं से प्रतीकवाद चला। राष्ट्र अमूर्त है किन्तु झंडे के रूप में उसका प्रतीक बना लिया गया है। धर्म का मूर्त रूप मनुष्य ने धर्मस्थान बना लिया। उपनिषद् में वर्णन आता है—"परमात्मा का अकेले मन नहीं लगा अतः द्वन्द्व पैदा किया और आत्मा का विस्तार कर नाम और रूप के आधार पर सृष्टि पैदा की।" नाम और रूप का यही आकर्षण अमूर्त को मूर्त बनाता है।

जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई, हिन्दू आदि सभी नाम हैं और उसकी संस्थाएं धर्म का रूप हैं। धर्म अमूर्त है, किन्तु नाम और रूप के द्वारा वह हमारे सामने आता है इसीलिए हर धर्म का अपना नाम और रूप है। लड़ाई इसी नाम और रूप के लिए हुई है। धर्म के लिए कभी भी युद्ध नहीं हुए। जैन धर्म में पन्द्रह प्रकार के सिद्ध माने गए हैं जिनमें स्व-लिंग-सिद्ध, अन्य-लिंग-सिद्ध और गृह-लिंग-सिद्ध—इन तीन सिद्धों का वर्णन भी मिलता है। जैन वेश में सिद्ध होने वाले स्व-लिंग-सिद्ध, अन्य किसी भी वेश में सिद्ध होने वाले अन्य-लिंग-सिद्ध और गृहस्थ के वेश में सिद्ध होने वाले गृह-लिंग-सिद्ध कहे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष ही में बंधा हुआ नहीं है, क्योंकि सम्प्रदाय वेश के अतिरिक्त गृहस्थ के वेश तक में भी सिद्ध होना सम्भव है।

चूंकि धर्म हमारी आत्मा की पवित्रता है अतः आत्म-पवित्रता में किसी का मतभेद नहीं है, केवल क्रियाकाण्डों में भेद आता है। जैन-दर्शन में 'नैगमनय' में प्रश्नोत्तर है—'तुम कहां रहते हो?' 'जम्बू द्वीप में।' 'जम्बू द्वीप में कहां रहते हो?' 'भारतवर्ष में।' 'भारत में कहां रहते हो?' 'अमुक राज्य में।' 'अमुक राज्य में कहां रहते हो?' 'अमुक नगर में।' 'अमुक नगर में कहां रहते हो?' 'अमुक मुहल्ले में।' 'अमुक मुहल्ले में कहां रहते हो?' 'अमुक नम्बर के मकान में'। 'अमुक नम्बर के मकान के किस कमरे में रहते हो?' 'अमुक कमरे में।' 'अमुक कमरे में [illegible] तो नहीं रहते होंगे?' अन्तिम निष्कर्ष निकलता है और जवाब मिलता है कि मैं आत्मप्रदेश में रहता हूं। वस्तुतः अपने स्वभाव में रहना धर्म है और स्वभाव से बाहर

जाना अधर्म है। भगवान् महावीर ने चार विकल्प किये हैं

१ कोई व्यक्ति धर्म छोडता है, सस्थान नहीं छोडता।

२ कोई सस्थान छोड़ता है, धर्म नहीं छोडता।

३ कोई धर्म और सस्थान दोनों छोडता है।

४ कोई धर्म और सस्थान दोनो रखता है।

इस कथन को और अधिक उत्तेजना दी है। विज्ञान प्रयोग-सिद्ध तथ्य का प्रतिपादन करता है। वैज्ञानिक परीक्षण का परिणाम देश और काल की सीमा से अतीत होता है। हर देश और हर काल मे समान ही परिणाम प्राप्त होता है। क्या धर्म वैज्ञानिक है ? क्या उसे परीक्षण की कसौटी पर कसा जा सकता है ? क्या उसकी परीक्षा का देशकालातीत परिणाम प्राप्त होता है ? ये बहुत सारे प्रश्न हैं, जो धर्म की वैज्ञानिकता जानने के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं।

धर्म अस्तित्व है। वस्तु का जो स्वभाव है, वह धर्म है। जिसने धर्म की यह परिभाषा की उसने धर्म के अन्तस्तल का साक्षात् किया था। आत्मा का स्वभाव चैतन्य है। चैतन्य का अनुभव ही धर्म है। अनुभव व्यक्तिगत होता है। विचार सामूहिक हो सकता है, किन्तु अनुभव सामूहिक नही हो सकता। विचार की परीक्षा की जा सकती है, अनुभव की परीक्षा नही की जा सकती। विचार भाषा में प्रस्फुटित होता है, अनुभव के प्रस्फुटन का कोई उपाय नही है। इस दशा में अनुभव को कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। जो कसौटी पर नही कसा जा सकता, जिसे प्रयोगशाला मे परीक्षणीय नहीं बनाया जा सकता, वह वैज्ञानिक नही हो सकता। इस अर्थ मे धर्म वैज्ञानिक नही है। जिन व्यक्तियो ने चैतन्य का अनुभव किया है, जो अपने चैतन्य के प्रति जागरूक हैं, उन सबका फलितार्थ एक है। कोई भी देश और काल उसमे अन्तर नही डाल सकता। इस समान परिणाम की दृष्टि से धर्म वैज्ञानिक है।

हम लोग अनुभव के धरातल पर उतरे बिना ही धर्म की वैज्ञानिकता और अवैज्ञानिकता की चर्चा करते हैं। हमारी धर्म के प्रति असफलता का यही सबसे बडा कारण है। विचार के धरातल पर तर्क और प्रतितर्क—दोनो चलते हैं। अनुभव के धरातल पर इनका कोई स्थान नही है। कोई तर्क के द्वारा धर्म की स्थापना करता है तो कोई उसका निरसन करता है। कोई अपने को आस्तिक मानता है तो कोई नास्तिक। जो कट्टर आस्तिक और कट्टर नास्तिक है, उनमें मुझे कोई भेद दिखाई नही देता। कट्टर

आस्तिक नास्तिक का और कट्टर नास्तिक आस्तिक का खण्डन करने पर तुला हुआ है। सत्य की जिज्ञासा दोनों में नहीं है। उसकी खोज दोनों नहीं कर रहे हैं। वे केवल मानकर चल रहे हैं। दोनों ही अपने-अपने शास्त्रों की दुहाइयां देकर अपने आपको आश्वस्त कर रहे हैं। जिनमें सत्य की जिज्ञासा है, जो उसके खोजी है, वे आस्तिक हों या नास्तिक, उनमें मुझे कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। कोई अस्तित्व को प्रधान मानकर नास्तित्व को नकार रहा है तो कोई नास्तित्व को प्रधान मानकर अस्तित्व को नकार रहा है। पर नास्तित्व और अस्तित्व की खोज का द्वार बन्द नहीं है, इसलिए वैसा आस्तिक नास्तिकता को अपने भीतर समेटे हुए है और वैसा नास्तिक आस्तिकता का दीप अपने भीतर सजोए हुए है।

हमने धर्म की कट्टरताएं पाल रखी हैं। जब विचार के साथ धर्म का गठ-बंधन होता है, तब कट्टरताएं पनपे बिना नहीं रह सकतीं। कुछ लोग मानते हैं कि जिस धर्म के साथ कट्टरता जुड़ी नहीं होती, उसका अस्तित्व टिक नहीं पाता। हमने धर्म को संगठन मान लिया, एक जाति का रूप दे दिया है। जो संगठन और जाति के रूप में विकसित होता है, वह सत्य के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। धर्म और सत्य की व्याप्ति अनुभव के धरातल पर ही सिद्ध हो सकती है। सम्प्रदायों का विकास धर्म या चैतन्य के अनुभव के आधार पर नहीं हुआ है। वह विचार की भूमिका पर हुआ है। अनुभव व्यक्ति को जोड़ता नहीं है। वह संगठन नहीं बनाता। विचार में जोड़-तोड़ दोनों की क्षमता है। वह समान चिन्तन के आधार पर व्यक्तियों को जोड़ता है, संगठन का निर्माण करता है। जहां संगठन होता है, वहां वह भी होता है जो धर्म को इष्ट नहीं है। धर्म के लिए [illegible] हुए हैं। इतिहास ने धर्म को इसीलिए आलोचित बनाया है कि इसके नाम पर रक्तपात हुआ है। हम इस भ्रान्ति को अभी पाल रहे हैं कि सम्प्रदाय या संगठन के नाम पर [illegible] रक्तपात को धर्म के नाम पर [illegible] मनुष्य के रूप में मारते चले जा रहे हैं। धर्म की व्याख्याओं में भारी अन्तर है। इसकी आचार-संहिता भी [illegible] है। [illegible]

है। हर धर्म ने कहा—अपने भीतर देखो, अपने आपको देखो। धर्म का मूल स्वरूप यही है। इसमे सब धर्म एकमत हैं। कोई भी धर्म इसे अस्वीकृत नही करता, इसका प्रबल समर्थन करता है। 'अपने भीतर देखो', 'अपने आपको देखो'—इस प्रकार की घोषणा करने वाले धर्म से क्या सघर्ष के स्फुलिग उछल सकते है ? क्या रक्तपात सभव हो सकता है ? यह सभव हुआ है धर्म को आधार बनाकर विकसित होने वाले सम्प्रदाय, सगठन या जाति से।

क्या धर्म के आधार पर सम्प्रदाय, सगठन या जाति का बनाना खतरनाक है ? निश्चित ही खतरनाक है। पर इस खतरे को रोका नहीं जा सकता। यह कब हो सकता है कि दीप जले और काजल न बने। ये धर्म के प्रासगिक परिणाम हैं। इन्हें रोकना सभव नही है। क्या इस खतरे से बचने का कोई उपाय नही है ? इस दुनिया मे निरुपाय कुछ नही है। उपेय है तो उपाय अवश्य ही होगा। इस खतरे से बचने का उपाय है—मूल्याकन का सही दृष्टिकोण। हम सम्प्रदाय की आचार-सहिता को धर्म की आचार-सहिता मानकर चल रहे हैं। सम्प्रदाय की आचार-सहिता मे घृणा, तिरस्कार और सघर्ष के बीज मौजूद हैं। अपने से भिन्न सम्प्रदाय वाले को मिथ्यात्वी, नास्तिक, शैतान, दानव या काफिर कहा गया है। यही खतरा है। धर्म की आचार-सहिता मे ऐसा नही हो सकता। उसकी यह भाषा ही नही है। उसकी भाषा अस्तित्व की भाषा है। उसमे स्व-पर या मेरा-तेरा जैसा शब्द गठित ही नही है। यही उस खतरे से बचने का उपाय है।

सम्प्रदाय की घोषणा है—मेरी सीमा मे आओ, अन्यथा तुम्हारी मुक्ति नही होगी। महावीर ने कहा—जो ऐसी घोषणा करता है, वह बाधता है, मुक्त नही करता। श्रीकृष्ण ने कहा—मेरी शरण मे आओ, तुम मुक्त हो जाओगे। कृष्ण सत्य है। वह आत्मा है। वह परमात्मा है। सत्य की शरण मे जाने वाला मुक्त होता है, बधता नही है। महावीर ने धर्म को सम्प्रदायातीत बतलाया। उन्होंने कहा—दु ख-मुक्ति सम्प्रदाय मे दीक्षित होने की अनिवार्यता नहीं है। उसके लिए आत्मस्थ होने की अनिवार्यता है।

जो आत्मस्थ है, वह सम्प्रदाय में दीक्षित हुए बिना भी मुक्त हो सकता है। महावीर ऐसे व्यक्ति को 'अश्रुत्वा केवली' कहते हैं। आत्मस्थ व्यक्ति सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भी मुक्त हो सकता है। ऐसे व्यक्ति को महावीर 'श्रुत्वा केवली' कहते हैं। इन दोनों में मुक्ति का अनुबंध सम्प्रदायातीत और सम्प्रदायगत अवस्था में नहीं है, किन्तु आत्मस्थता में है। जो आत्मस्थ है, वह सम्प्रदाय में हो या न हो, मुक्त हो सकता है। जो आत्मस्थ नहीं है, वह सम्प्रदाय में हो या न हो, मुक्त नहीं हो सकता। आत्मस्थता और मुक्ति की व्याप्ति है। सम्प्रदाय और मुक्ति की व्याप्ति नहीं है। धर्म सम्प्रदाय से ऊपर है, शुद्ध चैतन्य का अनुभव है, इसलिए सब देशों और सभी कालों में वह समान परिणाम उत्पन्न करता है। उसका परिणाम देश-कालातीत है, इसलिए वह वैज्ञानिक है।

महावीर के युग में धर्म था, दर्शन और योग नहीं था। दर्शन, ज्ञान और चारित्र—ये तीनों धर्म के अभिन्न अंग थे। ईसा पूर्व तीसरी-चौथी शती में दर्शन और योग स्वतंत्र रूप में विकसित होने लगे। ईसा की पांचवीं-छठी शती में दर्शन और योग मुख्य हो गए, धर्म गौण हो गया। वह केवल आचार रह गया। वह पंखहीन पक्षी जैसा हो गया। उसके दर्शन और आत्मिक साधना—ये दोनों पर कट गए। धर्म क्रियाकाण्ड का पुलिन्दा हो गया, अवैज्ञानिक हो गया। ईसा की आठवीं शती में इस वास्तविकता की ओर ध्यान आकर्षित होने लगा। आचार्य हरिभद्र ने अनुभव किया कि दर्शन और योग को धर्म से स्वतंत्र मानने का परिणाम हितकर नहीं होगा। उन्होंने लिखा—धर्म चारित्र है, मुक्ति का साधन है, इसलिए धर्म ही योग है। योग उससे भिन्न नहीं है। धर्म [illegible] का साधन है। दर्शन [illegible] का निरूपण करता है, इसलिए दर्शन भी धर्म से भिन्न नहीं है। [illegible] ([illegible]) [illegible]—'[illegible] ही दर्शन है।' [illegible] है। उसमें [illegible] है। [illegible]

है और इस अभिन्न त्रिपुटी का नाम ही धर्म है। किन्तु व्यवहार के धरातल पर चलने वाले धार्मिकों ने इस सचाई को विकसित नही होने दिया। वे धर्म को केवल आचार-सहिता के रूप मे प्रस्तुत कर सम्प्रदाय, सगठन और जाति के साथ उसका तादात्म्य स्थापित करते रहे। राज्यसस्था और समाजसस्था—दोनो धर्म के आधार पर सगठित होने लगी। धर्म उनके केन्द्र मे अवस्थित हो गया। उसे राज्याश्रय प्राप्त हुआ। धर्म राज्यधर्म हो गया। राजा की इच्छा ही धर्म का भाग्य बन गई। राजा ने जिस धर्म को माना, वह खूब फला-फूला। जिस पर उसकी भृकुटी तन गई उस धर्म का पौधा सूखने लगा। इसी प्रकार शक्तिशाली समाज द्वारा स्वीकृत धर्म व्यापक होने लगा और कमजोर वर्ग का धर्म मर्माहत होता गया। इस व्यवस्था मे धर्म की अपनी शक्ति (चैतन्यानुभव, अन्तर्दर्शन) गौण होती गई। वह तत्र, मत्र, जादू-टोना जैसी यान्त्रिक शक्तियो के सहारे जीने तथा राज्य और शक्तिशाली वर्ग की सत्ता के सहारे श्वास लेने लगा। उसकी अपनी प्राणशक्ति क्षीण हो गई। उसे कृत्रिम प्राण के सहारे जिलाने का प्रयत्न किया जाने लगा। फलत वह स्वत मृत और परत अनुप्राणित हो गया। उस धर्म को वैज्ञानिक या अवैज्ञानिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान के मानस मे धर्म की प्रतिमा श्रद्धा के साथ प्रतिष्ठित नही है। उसके साथ जुडा हुआ रक्त-रजित इतिहास उसकी पावनता को स्वय धूमिल किए हुए है। आज का चितनशील व्यक्ति धर्म के साम्प्रदायिक और सगठित रूप के प्रति आश्वस्त नही है, हो भी नही सकता और होना भी नही चाहिए। इतना होने पर भी उसकी पकड कमजोर नही हुई है। उसका कारण यही है कि हर व्यक्ति चैतन्य का ज्योतिपुज है। उसकी ज्योति-रश्मिया जाने-अनजाने किसी क्षण भीतर मे चली जाती हैं और धर्म-चेतना जागृत हो जाती है। व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि इस दुनिया मे जो नही पाया, वह स्वय मे है। वह स्वय का सत्य, स्वयभू आनन्द और सहज शक्ति अतिरिक्त अनुभव होती है, जिसकी तुलना भौतिक समृद्धि से

नहीं हो सकती। वर्तमान मानस में धर्म फिर योग के रूप में प्रतिष्ठित हो रहा है। लग रहा है कि लोग उनमें आज की समस्याओं का समाधान खोज रहे हैं और पा रहे हैं। जिसमें समाधान की शक्ति होती है, उसकी वैज्ञानिकता को कभी चुनौती नहीं दी जा सकती।

१३ : यम और नियम

खेतो की सुरक्षा के लिए वाड और जल की सुरक्षा के लिए पाल की जाती है। वाड की उपयोगिता तभी है, जब खेती लहलहा रही हो और पाल की उपयोगिता तभी है जब बाध मे जल हिलोरें भर रहा हो। जिस खेत मे खेती नही, वहा वाड के होने और न होने मे क्या कोई अन्तर होगा ? जिस बाध मे पानी नही, वहा पाल के होने और न होने मे क्या कोई अन्तर होगा ? वाड और पाल का अपने आप मे कोई उपयोग नही है। उनका उपयोग खेती और जल के होने पर ही है। नियम का उपयोग भी यम के होने पर है। यम पाच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियमो की तालिका लम्बी हो सकती है।

जब-जब यमो पर पटाक्षेप होता है और नियम रगमच पर आ जाते हैं, तब धर्म और धार्मिक निस्तेज बनता है। जब-जब यम प्रथम और नियम द्वयम् होते हैं, तब धर्म और धार्मिक का तेज बढता है।

आज धर्म की शक्ति इसलिए क्षीण-सी प्रतीत हो रही है कि उसमे यम की अनिवार्यता समाप्त हो गई है, नियम अनिवार्य बन गए हैं। एक आचार्य ने बहुत ही मार्मिक शब्दो मे लिखा है—

'यमा न भीक्ष्ण सेवेत, न नित्य नियमान् बुध ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो, नियमान् केवलान् भजन् ॥'

यमो का प्रतिदिन आचरण करो और नियमो का आचरण कभी-

य भी। जो व्यक्ति यमों का प्रतिदिन आचरण नहीं करता, वह भटक जाता है और वह भी भटक जाता है, जो केवल नियमों का आचरण करता है। नैतिकता की विषम स्थिति के समीकरण का सूत्र है, यमों और नियमों का समञ्जस आचरण।

१४ : व्रत की शक्ति

व्रत भारतीय सस्कृति का मेरुदण्ड रहा है। जिस समाज मे सकल्प की शक्ति नही होती, वह समाज शिष्ट नही होता। सकल्प-शक्ति का विकास व्रत से होता है। इसीलिए व्रत सारे भारतीय जीवन का केन्द्र-विन्दु है।

जितने भी तीर्थंकर और अवतार हुए हैं, उन सवने व्रत का प्रतिपादन किया है। ऐसा भी एक धर्म नही है जिसमे व्रत न हो। व्रत को केन्द्र मानकर व्यक्ति उसकी परिधि मे घूमता है। कोल्हू का वैल दीखने मे निकम्मा-सा लगता है। दिनभर चलकर भी एक फर्लांग आगे नही वढता। एक सकल्प के साथ घूमने वाला वैल तेल निकालने मे योग देता है। इसमे गति का परिणाम सक्षेप होने पर भी शून्य नही है। गति का विस्तार हो और परिणाम कुछ भी न हो, वह असफलता होती है। किन्तु जहा परिणाम हो, वहा असफलता नही होती।

जहा आत्मानुशासन का विकास होता है, वहा छिपकर काम करने की भावना नही उठती। व्यक्ति मे अपने निर्माण का विश्वास नही है, इसी-लिए राष्ट्र मे तेज नही आ रहा है। धर्म की परिधि, जो घेरा मात्र वन गया है, को तोडने की ओर गति नही होगी तो व्यक्ति की महानता प्रकट नही होगी। व्यक्ति की महानता के विना राष्ट्र की महानता भी व्यक्त नही होगी।

मनुष्य दो खिडकियो के वीच जी रहा है। एक खिडकी वाहर की

—मैं क्षत्रिय हू। क्षत्रिय कुल मे जन्मा हू। क्षत्रिय का कर्तव्य है कि जो कष्ट मे पडा हो, उसकी रक्षा करे।

राजा प्राणो की वलि देने को तैयार था। वह दण्ड-शक्ति की प्रेरणा नही थी, अपितु भीतर से आलोक आ रहा था और उसे कर्तव्य का वोध दे रहा था। कर्तव्य-वोध से आगे आत्मिक-वोध की सत्ता है। व्रत मे वाह्य दवाव या विवशता नही होती, आन्तरिक चेतना उद्‌बुद्ध होती है, इससे व्यक्ति अकर्तव्य कर नही सकता।

ढाई हजार वर्ष पहले मगध का शासन सम्राट् श्रेणिक के हाथो मे था। वहा कालसौकरिक कसाई रहता था। वह प्रतिदिन पाच-सौ भैंसें मारता था। कसाई के पुत्र का नाम सुलस था। वह पिता से विपरीत वृत्ति का था। कालसौकरिक का देहावसान हुआ। कौटुम्बिक उत्तराधिकार सौंपने का समय आया। उत्तराधिकारी को उत्तराधिकार लेने से पूर्व एक भैंसे की वलि देनी होती है। सुलस ने कहा—यह मुझे मान्य नही है। मैं ऐसा नही कर सकता। परिवार की ओर से दवाव डाला गया तो सुलस ने स्वीकार कर लिया। भैंसा सामने खडा है। परिवार के लोग अभिषेक करने के लिए सज्जित है। सुलस के हाथ मे तलवार दी गई और कहा—भैंसे को मारो। जिस व्यक्ति की चेतना जाग्रत हो गई, स्वाभाविक व्रत का उदय हो गया, वह ऐसा काम कैसे कर सकता है? सुलस ने तलवार चलाई—भैंसे पर नही, पर अपने पैरो पर।

लोग कहने लगे—इतना कायर आदमी इस उत्तराधिकार के योग्य नही है। उसे अयोग्य घोषित कर दिया गया।

उसने ऐसा क्यो किया? इसलिए किया कि उसके मानस मे व्रत था। जिसके मानस मे व्रत का उदय हो जाए, उससे अन्याय नही हो सकता। जिसके मानस मे व्रत का उदय नही होता, वहा दण्ड-शक्ति आती है। जहा दण्ड-शक्ति आती है, वहा व्यक्ति वाहर से नियन्त्रित किन्तु अन्तर् मे उच्छृंखल वन जाता है। व्रत व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना का प्रतिफलन है। जीवन मे व्रतों का आरोपण करना धर्म का उदय है। वह धार्मिक नही

है, जिनके जीवन में व्रतों का आरोपण नहीं है। व्रत सामाजिक, राष्ट्रीय और व्यक्ति-चेतना का उदात्त स्वर है। चेतना में जो सुषुप्त शक्ति है, उसे जागृत करने से व्यक्ति का उदय होगा, समाज में व्रत की प्रतिष्ठा होगी और धार्मिकता जागृत होगी। यदि ऐसा हुआ तो जो बन्द निर्झरी है, उससे आचार प्रवाहित होता रहेगा।

१५ : घेरे की शक्ति

व्रत जीवन को सीमित करता है। विकास का अर्थ है, विस्तार। फीते को तानने के लिए आकाश चाहिए। विकास देश-काल मे ही हो सकता है। देश और काल के विना किसी भी वस्तु की व्याख्या नही हो सकती। व्रत और विकास देखने मे एक-दूसरे के विरोधी लगते हैं पर मैं देखता हू, विरोध वास्तविक नही है। विरोध मनुष्य की दृष्टि मे, ज्ञान और कल्पना मे है। ससार मे ऐसा कोई तत्त्व नही है जिसमे सह-अस्तित्व नही हो। वस्तुसत्ता मे विरोध नही है। विरोध है व्यक्ति की दृष्टि मे। यदि दृष्टि मे सापेक्षता आ जाए तो विरोध कही नही है।

मेरे विचार मे विकास सीमा मे अधिक होता है। एक व्यक्ति पैरो मे पन्द्रह-सत्रह मिनट मे एक मील चलता है। यदि गति तेज हो तो दस-बारह मिनट मे एक मील चल सकता है। राजस्थान से अहमदाबाद आने मे आचार्यश्री को चार मास लगे है। आप वायुयान से दो घटे मे आ सकते है। ऐसा क्यो ? क्योकि वायुयान गति-शक्ति का एक घेरा है। यदि वायुयान का घेरा न हो तो इतनी शीघ्रता से नही आया जा सकता। जो घेरे को तोड विकास चाहते है, वे अपने को समाप्त कर देते है। मैं देखता हू कि मोटरकार मे बैठा व्यक्ति पचास मील की गति से दौडा जा रहा है। क्या खुले पैरो से वह इतना दौड सकता है ?

प्रश्न होता है, क्या हम संकीर्णता को स्थान दें? इस प्रश्न पर सापेक्ष-दृष्टि से विचार करें। संकीर्णता एकान्ततः दोषपूर्ण नहीं है। हम बहुत बार हर बात को संकीर्ण कहकर टाल देते हैं। पर सीमा और संकीर्णता की मर्यादा को समझना आवश्यक है।

१६ : क्षमा

एक संस्कृत-कवि कहता है—मुझे वह वस्तु बताओ जो दूध की तुलना कर सके। दूध पवित्र है, सहज मधुर है। उसे तपाया गया, विकृत किया गया, मथा गया, फिर भी वह स्नेह देता है।

स्नेह वही दे सकता है, जो प्रकृति से महान है। स्नेह वही दे सकता है, जो समर्थ है। लघु और असमर्थ इसीलिए लघु और असमर्थ होता है कि उसमे स्नेह देने की क्षमता नही होती। लक्ष्मण ने सुग्रीव से कठोर वचन के लिए क्षमा मागी—

> **'मया त्व परुषाण्युक्त,**
> **तत् क्षमस्व सखे ! मम।'**

लक्ष्मण असमर्थ नही थे। वह स्नेह की शून्यता को स्नेह से भर सकते थे, इसीलिए उनके मुह मे क्षमा का स्वर था।

सिन्धु-सौवीर के अधिपति उद्रायण ने उज्जयिनीपति चण्डप्रद्योत से क्षमा मागी। एक था वन्दी और दूसरा था वन्दी वनाने वाला। एक था पराजित और दूसरा विजेता। उद्रायण ने कहा, "महाराज प्रद्योत, आज सम्वत्सरी का दिन है। यह मैत्री का महान पर्व है। इस अवसर पर मैं तुम्हे हृदय से क्षमा करता हू। तुम मुझे हृदय से क्षमा करो।"

महावीर का मानना था कि एक छोटा हो और दूसरा वडा, उनमे मैत्री नही हो सकती। मैत्री समानता के धरातल पर हो सकती है। क्षमा

दे और ले नहीं, तो देने वाला बड़ा और नहीं देने वाला छोटा हो जाता है। उनमें मैत्री नहीं हो सकती। मैत्री उनमें हो सकती है, जो क्षमा दे और क्षमा ले।

महाराज प्रद्योत ने कहा, "क्या कोई बन्दी क्षमा दे सकता है?" उद्रायण आगे बढ़ा और प्रद्योत को मुक्त कर अपने बराबर बिठा लिया। दोनों हृदय स्नेह की शृंखला में बंध गए।

स्नेह का धागा एक और अविच्छिन्न है। उसमें अनन्त दिशा का एक साथ बांधने की क्षमता है।

उस दीप को बुझने में कितनी देर लगेगी, जिसमें स्नेह बच नहीं रहा है।

उस पुष्प को मुरझाने में कितनी देर लगेगी, जिसमें रस बच नहीं रहा है।

स्नेह जीवन के हिमालय का वह प्रपात है, जो गंगा यमुना बन बहता है और धरती के कण-कण को अभिषिक्त, अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित करता है।

स्नेह जीवन के सूर्य का वह प्रकाश है, जो सघन अन्धकार को भेदकर मानस की हर गहराई को आलोक से भर देता है। जिसके जीवन की गहराई में स्नेह की सरिता प्रवाहित नहीं है, वह क्या क्षमा करेगा?

क्षमा का शब्दोच्चारण क्षमा नहीं है। दुर्बलताओं तथा [illegible] को स्नेह की महान् धारा में विलीन करने की क्षमता जो है, वही क्षमा है। गंगा कितने गन्दे नालों को अपने में मिला पवित्र बना देती है। वह क्षमता किसी नाले की धारा में नहीं हो सकती। क्षमा का अर्थ है स्नेह की व्यापकता, असीमता और इतनी असीमता कि जिसमें कोई भी [illegible] अपनी भिन्नता प्रदर्शित न कर सके। धर्म की [illegible] देती। जो क्षमा है, वह [illegible] है। [illegible] और [illegible] [illegible] की भांति एक साथ [illegible]। [illegible] कोमलता और [illegible] और [illegible]

सकती।

क्या आप मुझे उन धर्मों को धर्म कहने की स्वीकृति देंगे, जो मनुष्य को मनुष्य के प्रति कठोर बना रहे हैं, मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बना रहे हैं, मनुष्य के प्रति मनुष्य के मन मे घृणा भर रहे हैं और अपनी सुरक्षा या विस्तार के लिए मनुष्य से मनुष्य की बलि माग रहे है। जो धर्म आत्मा की पवित्र वेदी से हटकर जातीय परम्परा से एक-रस हो जाता है, वह स्नेह के बदले रुक्षता की धार बहाता है और एकत्व के बदले विभाजन को बल देता है। ऐसे धर्मों से मनुष्य-जाति बहुत त्रास पा चुकी है। अब उसे उसी धर्म की अपेक्षा है जिसके अन्तस्तल मे स्नेह और वातावरण मे क्षमा का अजस्र स्रोत बह रहा है।

एक आदमी की अपने पडोसी से अनवन हो गई। उसके मन मे क्रोध की गाठ घुल गई। वह जव कभी पडोसी को देखता, उसकी आखें लाल हो उठती। यह द्वेष का वन्धन है।

एक वुढिया शरीर मे कृश होने लगी। पुत्र ने पूछा, 'मा! क्या तुम्हें कोई व्याधि है?'

'नही, वेटा! कोई व्याधि नही है।'

'फिर यह कृशता क्यो आ रही है?'

'वेटा! अपने पडोसी के घर मे विलोना होता है, उससे मुझे वहुत पीडा होती है। मथनी की डडिया उस विलोने मे नही, मेरी छाती मे चलती हैं। इसलिए मेरा शरीर कृश हो रहा है।' यह ईर्ष्या का वन्धन है।

राजा ने कहा—'वकरी को खूव खिलाओ पर वह शरीर मे वढनी नही चाहिए।' गाववाले समस्या मे उलझ गए। रोहक ने मार्ग ढूढ लिया। वकरी को शेर के पिजडे के पास ले जाकर वाध दिया। उसे चारा खूव देते। पर वकरी का शरीर पुष्ट नही हुआ। जैसे ही शेर दहाड़ता, उसका खाया-पिया हराम हो जाता। यह भय का वन्धन है।

एक आदमी किसी सेठ के पास गया। घर मे विवाह था। सेठ से कुछ सामग्री लेनी थी। सेठ से माग की तो वह वोला, 'ठहरो, अभी यहा कोई आदमी नही है।' आधा घटा वाद फिर माग की तो सेठ ने फिर वही उत्तर दिया। तीसरी वार माग की और वही उत्तर मिला। तव आगन्तुक ने कहा—"मैं तो आपको आदमी समझकर ही आपसे मागने आया था।' यह मानदण्ड का वन्धन है।

वाहरी वधनों की क्या वात कहू। अपने भीतर इतने वन्धन हैं कि उनसे निवटे विना वाहरी वन्धनो से निवटना, नहीं निवटने के समान हो जाता है।

मुझे मुक्ति प्रिय है, आपको भी प्रिय है, हर व्यक्ति को प्रिय है। किन्तु दूसरो को वाधने की मनोवृत्ति को त्यागे विना क्या हम मुक्त रह सकते हैं? अपने से छोटे को मैं वाधता हू, इसका अर्थ है, मैं अपने वडो से वधने का

रास्ता साफ करता है। आप बंधना न चाहें, उसका अर्थ होना चाहिए कि आप दूसरों को बांधना न चाहें। बन्धन बन्धन को जन्म देता है और मुक्ति मुक्ति को। बाहरी बन्धनों से मुक्ति पाने की अनिवार्य शर्त है मानसिक मुक्ति, आत्मिक मुक्ति।

१८. आर्जव

गौतम ने पूछा, 'भन्ते! आर्जव से मनुष्य क्या प्राप्त करता है?' भगवान् महावीर ने कहा, 'गौतम! आर्जव से मनुष्य काया की ऋजुता, भावों की ऋजुता, भाषा की ऋजुता और सवादी प्रवृत्ति—कथनी और करनी की समानता को प्राप्त करता है।'

आर्जव का अर्थ है सरलता। सरलता वह प्रकाश-पुज है, जिमे हम चारो ओर से देख सकते हैं। सरलता वह प्रकाश-पुज है, जिसमे हम चारो ओर से देख सकते हैं। भगवान् महावीर ने कहा, 'निर्मलता उसे प्राप्त होती है, जो ऋजु होता है।' कपटी मनुष्य का मन कभी निर्मल नही होता। बच्चे का मन सरल होता है, इसलिए उसके प्रति सबका स्नेह होता है। हम जैसे-जैसे बडे बनते हैं, समझदार बनते हैं, वैसे-वैसे हमारे मन पर आवरण आते रहते हैं। आवरण अज्ञान का होता है। आवरण सन्देह का होता है। आवरण माया का होता है। हम दूसरे व्यक्ति को जानने का यत्न नही करते, इसलिए हमारा मन उसके प्रति सरल नही होता। हम दूसरे व्यक्ति के प्रति विश्वास नही करते, इसलिए उसके प्रति हमारा मन सरल नही होता। हम दूसरे व्यक्ति से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं, इसलिए उसके प्रति हमारा मन सरल नही होता। यदि इस दुनिया मे अज्ञान, सन्देह और कपट नही होता तो मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम की धार बहती। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई दूरी नही होती। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से विभक्त नही होता। एक

सस्कृत-कवि ने कहा है—

'सन्वत्ते सरल सूची, वक्रा छेदाय कर्तरी'—सूई सरल होती है, इस-लिए जोडती है, दो को एक करती है और कैंची टेढी होती है, इसलिए वह काटती है, एक को दो करती है।'

सरलता मनों को साधती है। माया कैंची का काम करती है, मनों के टुकडे-टुकडे कर डालती है।

हमारे नीतिशास्त्रियो ने कहा है, 'मनुष्य को वहुत सरल नही होना चाहिए। देखो, जो वृक्ष वहुत सरल-सीधे होते हैं, वे काट दिए जाते हैं और जो टेढे होते है, वे नही काटे जाते।' इस नीति-वाक्य ने मानवीय हृदय मे प्रचलित सहज दीप को बुझाने का काम किया है। मैं आपसे पूछना चाहता हू, क्या आप टेढे शरीर वाले मनुष्य को पसन्द करते हैं? क्या आप टेढी वात कहने वाले का विश्वास करते हैं? क्या अपने साथ कुटिल व्यवहार करने वाले को आप पसन्द करते हैं? क्या मन मे कुटिलता रखने वाले को आप पसन्द करते हैं? इन सव प्रश्नो का उत्तर नकार की भाषा मे होगा अर्थात् आप उन्हें पसन्द नही करते हैं। तव यह कैसे माना जाए कि हमे वहुत सरल नही होना चाहिए? यदि हर आदमी का मन खुली पोथी जैसा होता तो मनुष्य मनुष्य से डरता ही नही। आज एक आदमी दूसरे आदमी से इसीलिए डरता है कि उसके मन मे छिपाव है, घुमाव है, अस्पष्टता है और अन्धकार है।

हम भोले न हो—सामने की स्थिति का प्रतिबिम्ब लेने की स्वच्छता से वचित न हो। हम मायावी भी न हो—अपने मन की कलुषता से सामने वाले के मन को कलुषित करने की दक्षता मे सम्पन्न न हो। हम सरल हो—वातावरण के प्रति सजग हो, किन्तु दूसरो के प्रति मन मे मलिन भाव न हो। जिसका मन सरल होता है, वह दूसरो से ठगा नही जाता। ठगा वही जाता है, जिसके अपने मन मे मैल होता है।

एक बुढिया जा रही थी। सिर पर एक गठरी थी। उसी रास्ते से एक युवक जा रहा था। उसके मन मे करुणा का भाव आया। उसने बुढिया से

कहा, "दादी! कुछ देर के लिए गठरी मुझे दे दो। तुम्हे थोडा-सा विश्राम मिल जाएगा।" वुढिया ने उसका भाव देखा और गठरी उसे दे दी। थोडी देर वाद वुढिया ने गठरी फिर ले ली। युवक का मन वदल गया। उसने सोचा—गठरी मेरे पास थी। उसे लेकर मैं भाग जाता तो वुढिया मेरा क्या करती? युवक ने फिर गठरी मागी। वुढिया ने वह नही दी। उसने फिर आग्रह किया तो वुढिया ने कहा, 'अव नही दूगी।' उसने पूछा, 'दादी! अव क्यो नही दोगी?' वुढिया वोली—'वेटा! अव नहीं दूगी। जो तुझे कह गया, वह मुझे भी कह गया।'

सरलता मन का वह प्रकाश है, जिसमे कोई भी वस्तु अस्पष्ट नहीं रहती। माया मन का वह अन्धकार है, जिसमे आदमी भटकता है, भटकता है और भटकता ही रहता है।

१९ : मार्दव

गुलाब के फूल मे जो सौन्दर्य और सुगन्ध है, वह हर फूल मे नही है। यह उत्कर्ष और अपकर्ष प्रकृति का नियम है। जहा पहाड है, वहा चोटी भी है और तलहटी भी है। पहाड मे विचार-शक्ति नही है, इसलिए उसकी चोटी और तलहटी मे कोई सघर्ष नही है। मनुष्य विचारशील प्राणी है। जो तलहटी पर खडा है, वह चोटीवाले को देख हीन-भावना से भर जाता है और जो चोटी पर खडा है, वह तलहटीवाले को देख अहभाव से भर जाता है। मनुष्य मे लम्बे समय से हीनता और उच्चता का सघर्ष चल रहा है। अमेरिका जैसे सुसस्कृत देश मे जातीय दगे होते हैं। गोरे आदमी काले आदमियो को हीन मानते हैं। उसकी प्रतिक्रिया जातीय द्वेष का रूप ले चुकी है।

हिन्दुस्तान जैसे धार्मिक देश मे स्पृश्य और अस्पृश्य—ये दो श्रेणिया आज भी चल रही हैं। न जाने कितने लोगो ने अस्पृश्यता के अभिशाप से अभिशप्त होकर धर्म-परिवर्तन किया और कर रहे हैं। जिस वर्ग ने उत्कर्ष प्राप्त किया, उसने दूसरे वर्ग को अपने से निम्न ठहराकर ही सतोष की सास ली। यह मनुष्य का मद है। मद अधर्म का द्वार है। इसमे प्रवेश पाकर मनुष्य ने सदा दूसरे मनुष्यो के प्रति क्रूर व्यवहार किया है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भन्ते! धर्म के द्वार कितने हैं?'

भगवान् ने कहा—'धर्म के चार द्वार हैं।'

'कौन-कौन-से, भन्ते ?'

भगवान् ने कहा—'शान्ति, मुक्ति, ऋजुता और मृदुता।'

मृदुता धर्म के प्रासाद मे प्रवेश पाने का एक द्वार है। पहले द्वार और फिर प्रासाद। द्वार मे प्रवेश पाए विना कोई प्रासाद तक पहुच नही सकता। क्या मृदु वने विना कोई धार्मिक हो सकता है ? कोई आदमी धार्मिक तो है किन्तु मृदु नही है। इसका अर्थ यह हुआ कि दिन तो है पर प्रकाश नही है। प्रकाश के विना दिन का अस्तित्व आपको मान्य नही है। फिर मृदुता के विना धर्म का अस्तित्व आपको कैसे मान्य होगा ? धार्मिक जगत् ने मृदुता को मान्यता दी है पर उसका अर्थ-वोध वहुत सकुचित है। मृदुता का अर्थ समझा जा रहा है विनम्रता। यह समझ त्रुटिपूर्ण नही है, किन्तु अपूर्ण है। मृदुता का पूर्ण अर्थ है—कठोरता का विसर्जन, क्रूरता का विसर्जन। जिसका हृदय मृदु नही है, उसका सिर झुक जाता है, फिर भी क्या वह मृदु है ? मृदु वह हो सकता है जिसके हृदय मे करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित है। जिसके हृदय मे करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है, वह शोपण नहीं कर सकता, अपनी सुख-सुविधा मे दूसरो की सुख-सुविधा को विलीन नहीं कर सकता, दूसरो को हानि पहुचे वैसा कार्य नही कर सकता।

सिंह चलता है, तव मुडकर पीछे देखता है। क्या धार्मिक के लिए पीछे देखना आवश्यक नही है ? सिंहावलोकन किए विना अतीत और वर्तमान मे सामजस्य स्थापित नही किया जा सकता। आत्मालोचन किए विना धर्म पर आने वाले आवरण को तोडा नही जा सकता। अहभाव व्यक्ति को क्रूर वनाता है। क्रूरता प्रतिहिंसा को जन्म देती है। वर्तमान परिस्थितियो मे ऐसा फलित हो रहा है। इस रोग की चिकित्सा है मृदुता, मृदुता और एकमात्र मृदुता।

एक वार गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—'भन्ते ! मृदुता मे क्या प्राप्त होता है ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! मृदुता मे अपने आपको दूसरो मे अतिरिक्त मानने की भावना मर जाती है।'

इस दुनिया मे कोई भी आदमी भगवान् के घर से नही आया है। हम सब मनुष्य हैं। इसलिए हर मनुष्य दूसरे मनुष्य से मानवीय व्यवहार की अपेक्षा रखता है।

२० : लाघव

एक आदमी तालाब मे स्नान कर रहा था। उसने गहरी डुबकिया ली। घटा भर तक वह जल मे तैरता-डूबता रहा। आखिर बाहर आया। घर जाते समय जल का घडा भर लिया। घडा कधे पर रख वह चलने लगा। घर कुछ दूर था। मार्ग मे वह थक गया। उसने मन ही मन सोचा—तालाब मे डुबकी ली तब सैकडो टन पानी मेरे सिर पर था। पर मुझे कोई भार का अनुभव नही हुआ। घडे मे दस-बारह किलो पानी होगा, फिर भी मुझे भार का अनुभव हो रहा है। यह क्यो ? ऐसा प्रश्न उन सबके मन मे पैदा होता है, जो व्यापक और सीमित—दोनो क्षेत्रो का अवगाहन करते हैं।

तालाब मे जल मुक्त होता है, उसका अवगाह-क्षेत्र व्यापक होता है, इसलिए भार का दबाव विकेन्द्रित हो जाता है। घडे मे जल बधा होता है, उसका अवगाह-क्षेत्र सीमित होता है, इसलिए भार का दबाव केन्द्रित हो जाता है। जब धन का सग्रह सीमित क्षेत्र मे होता है, तब वातावरण मे दबाव, तनाव और भार की अनुभूति होती है। जब धन का अवगाह-क्षेत्र व्यापक हो जाता है, तब वातावरण दबाव, तनाव और भार की अनुभूति से शून्य हो जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था, 'ऋद्धि-गौरव—धन को अपना मानने मे आदमी बोझिल बनता है और ऋद्धि-लाघव से वह हल्का बनता है।'

जब खाद्य-सामग्री केन्द्रित हो जाती है, कुछेक लोगो के हाथो मे जमा हो जाती है, तब वातावरण मे दबाव, तनाव और भार की अनुभूति होती है। जब खाद्य-सामग्री विकेन्द्रित हो जाती है, सबके हाथो मे पहुच जाती है, तब वातावरण दबाव, तनाव और भार की अनुभूति से शून्य हो जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था, 'रस-गौरव—खाद्य को अपना मानने से आदमी बोझिल बनता है और रस-लाघव से वह हल्का बनता है।'

जब सुख की अनुभूति केन्द्रित हो जाती है, अपनी सुख-साधना मे दूसरो की कठिनाइयो की अनुभूति मिट जाती है, तब वातावरण मे दबाव, तनाव और भार की अनुभूति होती है। जब सुख की अनुभूति व्यापक हो जाती है, दूसरो की कठिनाइया बाढने मे रस नही रहता, तब वातावरण दबाव, तनाव और भार की अनुभूति से शून्य हो जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था, 'सुख-गौरव—सुख को अपना मानने से आदमी बोझिल बनता है और सुख-लाघव मे आदमी हल्का बनता है।'

एक पद-यात्री से पूछिए, वह हल्का होकर चलना चाहता है या बोझ से लदकर? उत्तर मिलेगा, 'हल्का होकर चलना चाहता हू।' हम अपने मस्तिष्क पर कितना भार लादते हैं। एक गधा जितना भार नही ढोता, उतना भार हम कल्पनाओ का ढोते है। जितना भार एक ऊट नही ढोता, उतना भार हम योजनाओ का ढोते हैं। जितना भार एक हाथी नही ढोता, उतना भार म मान्यताओ का ढोते है। बहुत लोग कहते हैं, मन मे शान्ति नही है, प्रसन्नता नही है। वे शान्ति चाहते हैं पर दिमाग का बोझ हल्का करना नही चाहते। वे प्रसन्नता चाहते है, पर दिमाग का बोझ हल्का करना नही चाहते। शरीर का भारी होना ज्वर का लक्षण है। शरीर का हल्का होना स्वास्थ्य का लक्षण है। दिमाग का भारी होना अशान्ति का लक्षण है। दिमाग का हल्का होना शान्ति का लक्षण है।

आज के औद्योगिक युग मे चारो ओर तनाव बढ रहा है—स्नायविक तनाव, मानसिक तनाव, व्यावहारिक तनाव और व्यावसायिक तनाव।

तनाव और तनाव से उत्पन्न होने वाला पागलपन। क्या लाघव के सिवा इसकी कोई चिकित्सा हो सकेगी ?

घडा अपने लिए भरने और उतना भार ढोने की बात समझ मे आ सकती है, पर तालाब को अपने ही लिए बनाने की बात समझ मे नही आ सकती। जो लोग ऐसा कर रहे हैं, वे केवल अपनी शान्ति और प्रसन्नता को ही दियासलाई नही दिखा रह हैं किन्तु समूचे समाज की शान्ति और प्रसन्नता की होली जला रहे हैं।

२१ : सत्य

सत्य बहुत विराट् है। विराट् को शब्दो मे बाधना एक साहसिक प्रयत्न है। आदमी अनन्त आकाश को बाध अपना घर बना लेता है। अनन्त मे फैली हुई सूरज की रश्मियो को ग्रहण कर उसे आलोकित कर लेता है। तब सत्य के अचल का स्पर्श कर हम क्यो नही विराट् विभूति की अनुभूति कर सकते ?

आग्रह के लौहावरण को तोडे बिना क्या कोई सत्य तक पहुचा है ? जिसने अपनी धारणा की खिडकी से सत्य को देखा, वह सत्य से दूर भागा है। जिसने तथ्यो की खिडकी से सत्य को देखने का प्रयत्न किया, वह सत्य के निकट पहुचा है।

एक कुलवधू रस्सी से पीपल को बाधकर खीच रही थी। उसके हाथ रक्त-रजित हो रहे थे। शरीर काप रहा था। आखो मे अविरल आसू टपक रहे थे। फिर भी हठी पीपल एक पग भी नही सरक रहा था। एक पथिक उधर से आया। उसने सारा दृश्य देखा। वह शान्त स्वर मे बोला—'बहन ! क्या कर रही हो ?' 'भैया ! सास ने पीपल मगाया है, इसलिए इसे घर ले जाने का प्रयत्न कर रही हू। पर यह बहुत हठी है। मेरी एक भी बात नही मानता।' कुलवधू ने फिर एक बार रस्सी को दृढता से खीचा, किन्तु पीपल नही चला।

पथिक ने कहा—'बहन ! पीपल ऐसे नही जाएगा।' वह पीपल पर

चढा, एक टहनी तोडी। उसकी ओर बढाते हुए बोला—'लो ! यह पीपल अपनी सास को दे देना।'

आचार्य भिक्षु ने इस कथा द्वारा अज्ञानलब्ध आग्रह का चित्रण किया है। किन्तु आग्रह का यह एक रूप ही नही होता। अपनेपन का भी आग्रह होता है।

एक आदमी तलैया मे बैठा जल पी रहा था। जेठ की गर्मी मे उसका जल सूख गया था। थोडा-बहुत बचा, वह मिट्टी से मिला हुआ था। एक पथिक उस मार्ग से आया। उसने कहा, 'थोडी दूर पर बडा तालाब है, स्वच्छ पानी है। वह पीओ। क्यो पीते हो यह मिट्टी-मिला पानी ?' 'यह मेरे पिता की तलैया है, मैं इसी का जल पीऊगा'—यह कह वह फिर जल पीने का प्रयत्न करने लगा।

इस प्रकार सोचने और व्यवहार करने वाले लोग इस दुनिया मे कम नही हैं। यदि अपनेपन का आग्रह नही होता तो सत्य का मुह आवरणो से ढका नही होता।

मोह-जनित आग्रह इससे भी भयकर होता है। धोबी के घर एक कुत्ता रहता था। उसका नाम था सताबा। धोबी के दो पत्निया थी। वे परस्पर बहुत लडतीं। लडते समय एक-दूसरे को गाली देती, 'आयी है सताबा की बैर (पत्नी)।' कुत्ता इस नाम के मोह मे फस गया। उन्होंने कुत्ते को रोटी डालना बन्द कर दिया। वह भूख मे सूख गया। पडोस के कुत्ते ने कहा—'चलो, घूमे और रोटी खाए।' उसने कहा, 'मैं अपनी दो पत्नियो को छोडकर बाहर कैसे जा सकता हू ?'

सस्कार का आग्रह भी किसी से कम नही होता। एक चींटी कही जा रही थी। बीच मे दूसरी चीटी मिल गई। दोनो ने बातचीत की। अतिथि-चींटी ने सुख-सवाद पूछा तो वहा खडी चींटी ने कहा—'बहन ! और तो सब ठीक है पर मुह खारा बना रहता है।' अतिथि-चींटी ने कहा—'तुम नमक के पर्वत पर रहती हो, फिर मुह खारा क्यो नही होगा ? चलो मेरे पास। मैं मिसरी के पहाड पर रहती हू। वहा तुम्हारा मुह मीठा हो

जाएगा।' वह अतिथि-चीटी के साथ चल पडी। वहा पहुचने पर भी उसका मुह मीठा नही हुआ। उसने कहा—'मेरा मुह तो अभी खारा ही है।' वहा रहने वाली चीटी ने कहा—'मुह मे नमक की डली तो नही लायी हो?' 'वह तो है', नमक के पहाड पर रहने वाली चीटी ने कहा। 'वहन, नमक को छोडे विना मुह मीठा कैसे होगा?'

पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाए बिना कोई भी आदमी सत्य को नहीं पा सकता।

२२ · संयम

यदि सयम नही होता तो दुनिया मे भय और आतक का एकछत्र साम्राज्य होता। यदि नदी तटो के बीच प्रवाहित नही होती तो उससे जनता का उपकार कम, अपकार अधिक होता। हमारे जीवन की धारा सयम के तटो के बीच बहती है, इसीलिए हम हैं और समाज के बीच मे जीवित हैं। नीचे साबरमती बह रही है, ऊपर रेलवे पुल है। एक ओर बडी लाइन है, दूसरी ओर छोटी लाइन है। पास में ही साइकिलो और पद-गामियो का मार्ग है। सब अपने-अपने मार्ग से गुज़र रहे हैं। कोई किसी के मार्ग मे बाधक नही बन रहा है। यदि व्यवस्था मे सयम नही होता तो नदी के प्रवाह मे रेलें रुक जाती, मनुष्यो का आवागमन रुक जाता। मनुष्य सयम को जानता है, इसलिए न प्रवाह रुकता है, न रेलें रुकती हैं और न आवागमन रुकता है।

गीता कछुए के सयम का बखान करती है। कछुआ सयम करना जानता है। अपने अवयवो को अपनी सुरक्षा-ढाल मे सगोपित करना जानता है। इसीलिए वह सियारो के प्रहार से बच जाता है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने एक ही भाषा मे कहा—'हाथो का सयम करो, पैरो का सयम करो, वाणी का सयम करो, इन्द्रियो का सयम करो और मन का सयम करो।'

हर आदमी अपनी सुरक्षा चाहता है। सयम सबसे बडी सुरक्षा है।

असयम से जितने आदमी बीमार होते हैं, उतने कीटाणुओ से नही होते। असयम से जितने आदमी घायल बनते हैं, उतने शस्त्रो से नही होते। असयम से जितने आदमी वन्दी बनते हैं, उतने पुलिस से नही बनते। असयम से जितने आदमी मरते हैं, उतने मौत मे नही मरते।

शरीर शास्त्री कहते हैं—हम लोग पचास प्रतिशत अपने लिए खाते हैं और पचास प्रतिशत डॉक्टरो के लिए खाते हैं। आतो की आवश्यकता-पूर्ति के लिए नही खाया जाता, खाया जाता है जीभ की तुष्टि के लिए। भोजन की भूमिका से जीभ की तुष्टि को निकाल दिया जाए तो अन्न का उतना अभाव नही रहेगा, जितना आज है। खाने-पीने की आवश्यक वस्तुओ मे ध्यान उलझ जाता है, तब मौलिक आवश्यकता पर ध्यान पूर्णत केन्द्रित नही हो पाता। आज ऐसा हो रहा है। विलास या लोलुपता की समस्या ने खाद्य की समस्या को गौण कर दिया है। और खाद्य की समस्या ने अनेक गौण समस्याओ को मुख्य बना दिया है। हिन्दुस्तान अभी अल्प-साधन वाला देश है। उसमे एक वर्ग विलास और अनावश्यक वस्तुओ का भोग करे और दूसरा वर्ग भूख से सत्रस्त रहे, यह करुण कहानी है। इसमे असयम का बहुत बडा हाथ है। आचार्यश्री तुलसी राजस्थान मे थे। उनके कुछ शिष्य दूसरे प्रान्त मे विहार कर रहे थे। आचार्यश्री ने सुना कि उन्हे भोजन कम मिल रहा है, सुविधा मे नही मिल रहा है। आचार्यश्री ने अपने भोजन मे कमी कर दी। सहानुभूति का स्रोत वहा तक पहुच गया। उन्हे कठिनाई की अनुभूति कम होने लगी। सहानुभूति के अभाव मे कठिनाई की अनुभूति प्रखर हो जाती है और सहानुभूति मिलने पर कठिनाई कम न भी हो पर उसकी अनुभूति अवश्य ही कम हो जाती है। यदि सम्पन्न लोग सयम करें तो अभावग्रस्त लोगो की कठिनाई सहज ही कम हो जाती है और यदि वह एक साथ कम न भी हो किन्तु उसकी अनुभूति निश्चित रूप से कम हो सकती है। मनुष्य की सारी समस्याए वस्तुओ की प्रचुरता मे ही नही सुलझती हैं। बहुत सारी समस्याए सयम से सुलझती हैं। हमारे अर्थशास्त्री केवल वस्तुओ के विस्तार से समस्या को सुलझाने

की बात कर रहे हैं। इस समय हमारे धर्म-शास्त्रियो के लिए क्या यह आवश्यक नही है कि वे वैज्ञानिक पद्धति से सयम की प्रस्तुति करें और यह प्रतिपादित करें कि सयम से मानसिक समस्याओ के साथ-साथ भौतिक समस्याए भी सुलझनी हैं ? जब नियम (उपासना पक्ष) प्रधान बनता है और सयम गौण होता है, तब धर्म का क्षेत्र निस्तेज होता है और जब सयम प्रधान और नियम गौण होता है तब धर्म तेजस्वी बनता है।

२३ : तप

एक आदमी चला जा रहा था। जेठ की दुपहरी थी। चिलचिलाती धूप और अंगारे बरसाती लू। उसका शरीर तप उठा। उसने सोचा, यह सूर्य नही होता तो दुनिया कितनी सुन्दर होती ?

वर्षा ऋतु आयी। आकाश बादलो से घिर गया। भूमि जलजलाकार हो गई। कई दिन बीत गए, बादलो ने आकाश को मुक्ति नही दी। सूर्य का सम्बन्ध भूलोक से विच्छिन्न हो गया। न पूरा प्रकाश, न धूप और लू।

वही आदमी वैद्य के पास पहुचा। वैद्य के पूछने पर बोला, 'महाराज ! पाचन बिगड गया है, इसलिए दवा लेने आया हू।'

वैद्य ने कहा, 'सेठजी ! यह बदलाई मौसम है, सूर्य भगवान् की रश्मिया भूलोक पर नहीं पहुचती हैं, इससे अग्नि मद हो जाती है, कृपया कुछ कम खाया करें।' सेठ दवा लिये बिना ही लौट गया। वह मन-ही-मन सोचता जा रहा था कि सूर्य नही होता तो यह दुनिया कितनी भयकर होती !

सूर्य हमारी प्राणशक्ति का स्रोत है। क्या तपस्या हमारी प्राणशक्ति का स्रोत नही है ? जो मनुष्य कम खाता है, वह जितना स्वस्थ, सतुलित और प्रसन्न होता है, उतना वह नही होता जो बहुत खाता है। कम खाना तप है। आचाराग में लिखा है—'भगवान् महावीर रुग्ण नहीं थे, फिर भी कम खाते थे।' मैं इस तथ्य को इस भाषा मे प्रस्तुत करना चाहता हू कि

भगवान् कम खाते थे, इसीलिए स्वस्थ थे। उपवास को चिकित्सा पद्धति का रूप मिल चुका है। किन्तु वह केवल शारीरिक चिकित्सा पद्धति नही है। उससे चिर अर्जित मानसिक मल भी विसर्जित होते है। उपवास एक तप है। महात्मा गाधी ने अस्वाद को एक व्रत माना था। जो आदमी अपनी जीभ को जीत लेता है, उसे पराजित करने की क्षमता किसी भी इन्द्रिय मे नही होती। **अस्वाद महान् तप है।**

हमारा शरीर बहुत चचल है। हमारी इन्द्रिया बहुत चचल है। हमारा मन बहुत चचल है। बन्दर बहुत चपल होता है। उसका स्थिर-शान्त बैठ जाना भी एक प्रकार की चपलता है। हमारी चपलता बन्दर की भाति स्वाभाविक नही, किन्तु कार्य-हेतुक है। हमारे शरीर की स्थिरता सधती है, वह तपस्या है। तपस्या केवल शारीरिक ही नही होती, वाचिक और मानसिक भी होती है। तपस्या का भूख से अनुबन्ध नही है। **हमारा मन पवित्र होता है तो हम खाकर भी तपस्या कर सकते हैं। मन की अपवित्रता मे भूखे रहकर भी तपस्या नहीं कर पाते।**

वे प्राणी बहुत भाग्यशाली हैं, जिन्हे पाणि प्राप्त है। वे अधिक भाग्यशाली हैं, जिन्हे वाणी प्राप्त है। वाणी के द्वारा हम बाह्य जगत् मे सम्पर्क स्थापित करते है। यदि वाणी नही होती तो अभिव्यक्ति का क्षेत्र बहुत सकुचित होता। हम वाणी के द्वारा स्वाध्याय करते है। स्वाध्याय का अर्थ होता है, एक व्यक्ति को प्राप्त सत्य या अनुभूति का हजारो-हजारो लोगो द्वारा अभिवरण। यह वाचिक तप है। प्रणालिका जल को खेत तक पहुचा देती है। वह मात्र माध्यम है। मूल है जल की सत्ता। कुए मे जल होता है, प्रणालिका उसे खेत तक पहुचाती है। वाणी एक माध्यम है। उसका आकर मन और बुद्धि है। ध्यान मानसिक तप है। अनुप्रेक्षा बौद्धिक तप है। सूर्य से हमारी प्राणशक्ति को पोष मिलता है। तपस्या से हमारी आत्म-शक्ति को पोष मिलता है। गीता मे कहा है—'यह शरीर है। इन्द्रिया शरीर मे अग्रणी हैं, मन इन्द्रियो मे अग्रणी है, बुद्धि मन से अग्रणी है, और आत्मा बुद्धि मे अग्रणी है।'

कोरा शरीर तपता है तब ग्रह बढता है। शरीर और इन्द्रिया दोनों तपते हैं तब सयम बढता है। शरीर, इन्द्रिय और मन तीनो तपते हैं, तब आत्मा का द्वार खुलता है। शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि चारो तपते हैं, तब आत्मा का साक्षात् होता है। यह वह भूमिका है, जिसमे तपस्या स्वय कृतकृत्य हो जाती है।

२४ त्याग

मैं एक मन्दिर मे बैठा था। सध्या की वेला थी। पुजारी आया। दीप जला, भगवान् की आरती की। दीप को दीवट पर लाकर रख दिया। मैं दीवट के सहारे बैठा था। अब मैं देखता हू पतली-सी दीपशिखा पवन के इशारे पर इधर-उधर घूम रही है। उसमे एक बहुत पतली-सी धूम-शिखा निकल रही है। मैंने मन-ही-मन सोचा, त्याज्य को त्यागना अनिवार्य है। दीप इसीलिए प्रकाश दे रहा है कि वह त्याज्य को त्याग रहा है। हम प्रात काल घूमने जाते हैं। चलते-चलते पूरक करते हैं—धीमे-धीमे प्राणवायु को भरते है। फिर उसका रेचन करते हैं—बहुत धीमे-धीमे उसे छोडते है। हम केवल प्राणवायु को ही नही छोडते, उसके साथ दूषित वायु या कार्बन को भी छोडते है। हम इसीलिए स्वस्थ है कि त्याज्य को त्यागना जानते हैं।

जीवन का सूत्र है—लो, काम मे लो और त्याग दो। जो इस सूत्र से परिचित है, उनके जीवन मे प्रकाश है, सुख है और स्वास्थ्य है। जो इस सूत्र से परिचित नही हैं, केवल लेना जानते हैं, भोग करना जानते हैं, किन्तु त्याग करना नही जानते, उन्हें न प्रकाश प्राप्त है, न सुख और न स्वास्थ्य।

जो धन का सग्रह करते है, उसका त्याग नहीं करते, वे प्रकाश की उपेक्षा कर धुए को अपने भीतर सचित कर रहे है।

जो सत्ता का सग्रह करते है, उसका त्याग नहीं करते, वे स्वास्थ्य की

उपेक्षा कर दूषित वायु को अपने भीतर संचित कर रहे है।

त्याग की प्रतिध्वनि केवल अध्यात्म के मन्दिर मे ही नही हो रही है, व्यवहार के कण-कण मे भी त्याग प्रतिबिम्बित हो रहा है।

यदि मनुष्य त्याग की सत्ता से परिचित नही होता तो वह स्वतत्र और सम्मानपूर्ण जीवन नही जी सकता। दशार्णभद्र दशार्णपुर का राजा था। वह भगवान् महावीर को वन्दना करने आया। उसे अपने वैभव पर गर्व हो रहा था। इन्द्र भी भगवान् को वन्दना करने आया। उसका वैभव देख दशार्णभद्र लज्जित हो गया। गर्व का पारा नीचे को देख चढता है और ऊपर को देख उतर जाता है। दशार्णभद्र के गर्व का पारा सहसा उतर गया। अब उसके सम्मान की सुरक्षा सभव नही रही। दशार्णभद्र ने उस राज्य-सत्ता को त्याग दिया, जो प्रकाश पर आवरण डाल रही थी। उसके आत्मिक वैभव के सामने इन्द्र का सिर झुक गया।

भोग से शौर्य का दीप बुझता है और त्याग से वह प्रज्वलित होता है। भोग से जीवन का फूल मुरझाता है और त्याग से वह खिलता है।

दशार्णभद्र ने राज्यसत्ता को ही नही त्यागा, उसकी वासना को भी त्याग दिया। विषय दुनिया के अचल मे है और वासना हमारे मन के कोने मे है। विषय को त्यागकर हम वासना की जड को उखाडने के लिए आगे बढें, वह त्याग है। विषय को त्यागकर यदि हम वासना को उद्दीप्त कर डाले तो वह त्याग नही, त्याग का आभास है।

सच यह है कि हम लोग विषय को त्यागने की बात जितनी जानते है, उतनी वासना को त्यागने की बात नही जानते। इसीलिए हम बहुत बार त्याग करके भी अत्याग की अनुभूति करते है।

त्याग तभी होता है, जब अनुराग का स्रोत बाहर से मुडकर भीतर बहने लग जाता है। एक व्यक्ति ने आवेगो को सुलझाते हुए कहा—'बन्धुवर क्रोध! तुम अपना दूसरा घर ढूढ लो। भाई मान! तुम भी चले जाओ। देवी माया! तुम यहा नही रह सकती। मित्र लोभ! तुम भी चले जाओ। मेरे अनुराग का स्रोत अब भीतर प्रवाहित होने लगा है। इसलिए

वह और तुम एक साथ नही रह सकते।'

वासना को देखते रहो, उसकी सत्ता हिल उठेगी और विषय की आसक्ति अपने आप विलीन हो जाएगी।

२५ : ब्रह्मचर्य

एक आदमी सन्यासी के पास गया और धन की याचना की। सन्यासी ने कहा—'मेरे पास कुछ भी नही है।' उसने बहुत आग्रह किया तो सन्यासी ने कहा—'जाओ, सामने नदी के किनारे एक पत्थर पडा है, वह ले आओ।' वह गया और पत्थर ले आया। सन्यासी ने कहा—'यह पारसमणि है, इससे लोहा सोना बन जाता है।' वह बहुत प्रसन्न हुआ। सन्यासी को प्रणाम कर वहा से चला। थोडी दूर जाने पर उसके मन मे एक विकल्प उठा—पारसमणि ही यदि सबसे बढिया होता तो सन्यासी इसे क्यो छोडता ? सन्यासी के पास इससे भी बढिया कोई वस्तु है। वह फिर आया और प्रणाम कर बोला—'बाबा ! मुझे यह पारसमणि नही चाहिए, मुझे वह दो जिसे पाकर तुमने इस पारसमणि को ठुकरा दिया।'

पारस को ठुकराने की शक्ति किसी भौतिक सत्ता मे नही हो सकती। अध्यात्म ही एक ऐसी सत्ता है, जिसकी दृष्टि मे पारसमणि का पत्थर से अधिक कोई उपयोग नही है। काम-भोग को आप पारसमणि मान लें, मुझे कोई आपत्ति नही होगी, किन्तु वह सबसे बढिया नही है, सुखानुभूति का सर्वाधिक साधन नही है। आनन्द के स्रोत का साक्षात् होने पर आदमी उसे वैसे ही ठुकरा देता है, जैसे सन्यासी ने पारसमणि को ठुकराया था।

उपनिषद् के ऋषियो ने गाया—'आनन्द ब्रह्म'—आनन्द ब्रह्म है। यदि आनन्द नही होता तो हमारा जीवन बुझी हुई ज्योति जैसा होता।

हमारे शरीर मे से एक रश्मिपुंज प्रसृत हो रहा है। हमारी आखो मे प्रकाश तरंगित हो रहा है। यह सब क्या है ? हमारे आनन्द की अभिव्यक्ति है। हमारी चेतना मे आनन्द का सिन्धु लहरा रहा है। हमारा मन आनन्द की खोज मे बाहर दौड रहा है। ठीक कस्तूरी-मृग की दशा हो रही है। कस्तूरी नाभि मे है और वह कस्तूरी की खोज मे मारा-मारा फिर रहा है। विषयो की अनुभूति मे सुख नही है, ऐसा मेरा अभिमत नही है। विषयो से प्राप्त होने वाला सुख असीम नही है, शारीरिक तथा मानसिक अनिष्ट की परिणति से मुक्त नही है। चेतना मे आनन्द सहज स्फूर्त है, असीम है, और उसके परिणाम मे ग्लानि की अनुभूति नही है।

कुछ मानसशास्त्रियों का मत है कि ब्रह्मचर्य इच्छाओ का दमन है और इच्छाओ का दमन करने से आदमी पागल बनता है। उनकी दृष्टि मे ब्रह्मचर्य निषेधात्मक प्रवृत्ति है। इसलिए उसकी उपादेयता मे उन्हें विश्वास नही है।

भारतीय चिन्तन इससे भिन्न रहा है। भारतीय मनीषी ब्रह्मचर्य को सृजनात्मक शक्ति मानते हैं। उसमे निषेध केवल बाह्य उद्दीपनो का है। वह आन्तरिक चेतना के विकास और मुक्ति का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है, इसलिए उसकी सृजनात्मक शक्ति बहुत व्यापक है।

योग के आचार्यों ने हमारे शरीर मे सात चक्र माने हैं। उनमे दूसरे चक्र का नाम स्वाधिष्ठान है। यह काम-चक्र है। यह चक्र विकसित नहीं होता तब मनुष्य वासना मे रस लेता है। इस चक्र को हम विशुद्ध-चक्र (कण्ठ-मणि) से संपृक्त कर देते हैं, तब हमारी आनन्दानुभूति का स्रोत बदल जाता है। हम आज्ञा-चक्र या भ्रू-चक्र को विकसित कर लेते है, तब हमारी आनन्दानुभूति का मार्ग बदल जाता है। मानसशास्त्र के अनुसार काम का उदात्तीकरण होता है। योगशास्त्र के अनुसार काम-चक्र का ऊर्ध्वीकरण होता है। इस ऊर्ध्वीकरण से हमारे मन का सहज आनन्द के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है। सुखानुभूति के द्वार को बन्द कर कोई आदमी ब्रह्मचारी नही बन सकता। किन्तु आनन्दानुभूति के द्वार को खोलकर ही ब्रह्मचारी बन सकता है।

२६ · कला और कलाकार

बहुत अच्छा होता मैं कलाकार होता और कला पर प्रकाश डालता। पर मैं कलाकार नही हू, साधक हू। साधक भी सयम का हू, कला का नही। मैं व्यापक दृष्टि से सोचता हू, तो पाता हू कि जिस व्यक्ति के पास वाणी है, हाथ हैं, अगुली है, पैर है, शरीर के अवयव हैं, वह कलाकार है। इस परिभाषा मे कौन कलाकार नही है ? हर व्यक्ति कलाकार है। मैं भी कलाकार हू।

मनुष्य मे अभिव्यक्ति या आत्मख्यापन की प्रवृत्ति आदिकाल से रही है। वह अव्यक्त से व्यक्त होना चाहता है। यह नही होता तो वाणी का विकास नही होता। यदि यह नही होता तो मनुष्य का चिन्तन वाणी के द्वारा प्रवाहित नही होता। अव्यक्त का व्यक्तीकरण और सूक्ष्म का स्थूलीकरण क्या कला नही है ?

उपनिषद् के अनुसार सृष्टि का आदि बीज कला है। ब्रह्म के मन मे आया—मैं व्यक्त होऊ। वह नाम और रूप के माध्यम से व्यक्त हुआ। सृष्टि और क्या है ? नाम और रूप ही तो सृष्टि है। जिनमे अभिव्यक्ति का भाव हो और जो उसे व्यक्त करना जानता हो, वही कलाकार है।

कलाकार पहले रेखाए खीचता है, फिर परिष्कार करता है। कभी-कभी परिष्कार मे मूल रूप ही बदल जाता है। मकान का परिष्कार होता है। हर कृति का परिष्कार होता है। परिष्कार विकास का लक्षण है।

कला मे हाथ, अंगुली, पैर, इन्द्रिय और शरीर का प्रयोग होता है। भगवान् ने हमे पाठ दिया कि हाथ का सयम करो। पैर का सयम करो। वाणी का मयम करो। इन्द्रियो का सयम करो।

कला का सूत्र है आख खोलकर देखो। **सयम का मूल सूत्र है, आंख मूंदकर देखो।** कला की पृष्ठभूमि मे अभिव्यक्ति है। सयम अभिव्यक्ति की ओर प्रेरित करता है। दोनो मे सामजस्य प्रतीत नही होता। हर वस्तु मे विरोधी युगल होते हैं। एक परमाणु मे भी अनन्त विरोधी युगल हैं। जिसमे ये नही होते, उसका अस्तित्व नही होता।

कला और सयम मे भी सामजस्य है। **कला का अर्थ है सामजस्यपूर्ण प्रवृत्ति।** मुझे स्याद्वाद की दृष्टि प्राप्त हुई है। मैं सापेक्ष-दृष्टि से देखता हू कि कला का विकास सामजस्य से हुआ है। सत्य कला से विराट् है। सत्य के साथ कला का योग होने से जीवन विकासशील वन जाता है। अगरवत्ती को अग्नि मिलने से सुगन्ध फूट पड़ती है। सत्य और सौन्दर्य का योग होने से जीवन का विकास हो जाता है। जीवन-विकास और कल्याण में अन्तर नही है। कल्याण यानी शिव। हमारा शिव सत्य और सौन्दर्य के बीच होना चाहिए। **जीवन की पृष्ठभूमि मे शिव और आखो के सामने सौन्दर्य हो तभी सत्य, शिव, सुन्दर की समन्विति हो सकती है।**

२७ आस्था का एकांगी अचल

हमारे कुछ तत्त्ववेत्ता छिलके को समाप्त कर गूदे की निष्पत्ति चाहते हैं। किन्तु प्रश्न होता है, क्या यह सम्भव है ? क्या आपने कोई ऐसा फल देखा है कि उसमे गूदा है और उस पर छिलका नही है ? मैं जहा तक जान पाया हू, गूदे की निष्पत्ति के लिए छिलके का होना अनिवार्य है। इस अनिवार्यता का अस्वीकार वस्तुस्थिति का अस्वीकार है।

आप सब्जीमण्डी मे जाते हैं और सतरे खरीदते हैं। एक किलो सतरे मे लगभग आधा किलो छिलके होते हैं। आप छिलके नही खाते, उन्हे डाल देते हैं। छिलके डालने होंगे, यह जानते हुए भी आप छिलके-सहित सतरे खरीदते हैं और दूकानदार को एक किलो सतरे के दाम चुकाते हैं। सतरो की फाकें छिलको के बिना सुरक्षित नही रहती, इस बुद्धि से आप उनकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं और उनका मूल्य चुकाते हैं। आप छिलके को फेंक देते हैं पर उन्हें तभी फेंकते हैं, जब सतरा खाने को प्रस्तुत होते हैं।

मैं छिलके की तुलना बाह्य चर्या या क्रिया मे कर रहा हू और गूदे की तुलना आत्मानन्द या आत्मानुभूति मे कर रहा हू। आत्मानुभूति पहले ही पदन्यास मे परिपक्व नही हो जाती। मैं मानता हू कि बाह्य चर्या आत्मानुभूति नही है। किन्तु बाह्य चर्या आत्मानुभूति की परिपक्वता का निमित्त नही है, यह मानने के लिए मुझे कोई पुष्ट हेतु प्राप्त नही है। मैं मानता हू कि छिलका त्याज्य है। किन्तु क्या आप नही मानेंगे कि फल का परिपाक

होने से पूर्व वह त्याज्य नही है ? समुद्र के तट पर पहुच जाने वाले हर यात्री के लिए जलपोत त्याज्य है, किन्तु समुद्र के मध्य मे चलने वाले यात्री के लिए वह त्याज्य कैसे हो सकता है ? क्या हम इसे स्वीकार करेंगे कि समुद्र का पार पाने के लिए जलपोत का कोई उपयोग नही है ? हेय और उपादेय की भूमिका एक और निरपेक्ष नही होती। वे अनेक और सापेक्ष होती है।

आत्मानुभूति की भूमिका मे आरूढ व्यक्ति के लिए बाह्य चर्या का उपयोग समाप्त हो जाता है। पर आत्मानुभूति की भूमिका मे आरोहण करने वाले व्यक्ति के लिए उसकी उपयोगिता को कैसे नकारा जा सकता है ? समय से पूर्व छिलका उतार लेने पर फल का परिपाक रुक जाता है। समय से पूर्व जलपोत छोड देने पर आदमी डूब जाता है।

आचार्य रजनीश तथा कानजी स्वामी जिस तत्त्व का प्रतिपादन कर रहे है, उसकी तुलना निम्न निदर्शनो से की जा सकती है कि छिलका अनावश्यक है और तैरने की शक्ति हमारे हाथो मे है, इसलिए जलपोत भी हमारे लिए आवश्यक नही है। क्या मैं कहू कि उनके इस प्रतिपादन मे सचाई नही है ? क्या किसी स्याद्वादी के लिए ऐसा कोई प्रतिपादन है, जिसमे सचाई का अश न हो। इस प्रतिपादन मे सचाई है पर उसका सम्बन्ध हमारे अस्तित्व की व्याख्या मे है, उसकी उपलब्धि से नही है। चैतन्य की सत्ता ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति से पूर्ण है। वह प्रारम्भ मे अव्यक्त होती है। साधना के द्वारा उसकी क्रमिक अभिव्यक्ति होती है। साधना के तीन अग है

१ सम्यक दर्शन

२ सम्यक् ज्ञान

३ सम्यक् चारित्र

इनमे सम्यक् दर्शन आधारभूत है। उसकी उपलब्धि होने पर सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र उपलब्ध होते हैं। उसकी अनुपलब्धि मे दोनो (सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) उपलब्ध नही होते। किन्तु इस पौर्वापर्य

का यह अर्थ नही कि सम्यक् दर्शन होने पर सम्यक् ज्ञान परिपूर्ण हो जाता है। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की परिपूर्णता के बीच हजारो योजनो की दूरी है। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि होने पर ज्ञान का मिथ्यात्व मिट जाता है। पर उसका आवरण सर्वथा क्षीण नही होता। ज्ञान की निरावरण दशा सम्यक् चारित्र से निष्पन्न होती है।

सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र के पौर्वापर्य का यह अर्थ नही कि सम्यक् दर्शन होने पर सम्यक् चारित्र अपने आप हो जाता है। सम्यक् चारित्र आत्मा की स्वकेन्द्रित परिणति होने पर प्राप्त होता है। यदि आत्मदर्शन और आत्मरमण की परिणति एक ही होती तो हर आत्मदर्शी व्यक्ति निरावरण और निष्कषाय हो जाता। किन्तु ऐसा नही होता। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जाने पर भी कषाय क्षीण नही होता और कषाय की सत्ता मे ज्ञान का आवरण क्षीण नही होता। यदि सम्यक् दर्शन उपलब्ध होने पर शेष सब कुछ उपलब्ध हो जाता तो साधना की लम्बाई सिमट जाती। किन्तु वास्तविक जगत् मे ऐसा नही है। सम्यक् दृष्टि की उपलब्धि हो जाने पर भी साधना की लम्बाई शेष रहती है। सम्यक् दर्शन की पूर्णता होने पर भी सम्यक ज्ञान की पूर्णता नही होती। सम्यक् ज्ञान की पूर्णता होने पर भी सवर की पूर्णता नही होती और सवर की पूर्णता हुए बिना मुक्ति नही होती। सम्यक् दर्शन की पूर्णता होने ही सम्यक् ज्ञान और सवर की पूर्णता हो जाती है। यह नियम नही है, किन्तु नियम यह है कि सवर की पूर्णता सम्यक् ज्ञान की पूर्णता और सम्यक् ज्ञान की पूर्णता सम्यक् दर्शन की पूर्णता प्राप्त हुए बिना नही होती।

भगवान् महावीर को सम्यक् दर्शन प्राप्त था। सम्यक् चारित्र प्राप्त होने पर भी भगवान् ने साढे बारह वर्षो तक तपश्चर्यापूर्वक साधना की थी।

'सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर उपवास, सामायिक आदि आवश्यक नही होते। परम्परा, शास्त्र आदि सब व्यर्थ हैं'—इस प्रकार की निरूपणा के द्वारा व्यक्ति को क्रिया से विमुख तथा परम्परा और शास्त्रों के प्रति

अनास्थावान किया जा सकता है किन्तु उसकी सृजनात्मक चेतना को स्फूर्त नहीं किया जा सकता ।

सृजनात्मक चेतना के निर्माण के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की समन्वित स्थिति आवश्यक है । उसके व्याख्यासूत्र का प्रथम अंश यह होगा कि मनुष्य छिलके में ही उलझा न रहे । वह गूदे तक पहुंचे और उसकी रसानुभूति प्राप्त करे । उसका द्वितीय अंश यह होगा कि मनुष्य छिलके की उपयोगिता को अस्वीकार न करे । आवरण की भूमिका में निरावरण का समारोप न करे ।

एक ओर कुछ लोग केवल व्यवहार की भूमिका पर विहार कर रहे हैं । वे निमित्त के सामने उपादान की तथा पर्यावरण के सामने अन्तरात्मा की सत्ता को दृष्टि से ओझल किए हुए हैं । दूसरी ओर कुछ लोग वे हैं, जो वास्तविकता की भूमि पर पैर टिकाए खड़े हैं । उनका मानना है कि उपादान और अन्तरात्मा की सत्ता ही सब कुछ है । निमित्त और पर्यावरण की कोई उपयोगिता नहीं है । ये दोनों सत्य के अन्तिम छोर हैं । ये परस्पर संपृक्त नहीं हैं, इसलिए खण्डित सत्य हैं । अखण्ड सत्य यह है कि निमित्त के प्रभाव-क्षेत्र में रहने वाला हर उपादान निमित्त से प्रभावित होता है और निमित्त के प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त रहने वाला निमित्त से प्रभावित नहीं होता । पहली सायोगिक अवस्था है और दूसरी स्वाभाविक । जो लोग एकांगी प्रतिपादन करते हैं, वे सायोगिक अवस्था में स्वाभाविक अवस्था का आरोपण करते हैं । स्वाभाविक अवस्था तक पहुंचना हमारा साध्य है किन्तु वह वर्तमान में हमारे लिए सिद्ध नहीं है । अभी हम सायोगिक अवस्था में हैं । स्वाभाविक अवस्था की उपलब्धि के बाद हम निमित्त से प्रभावित नहीं होंगे । किन्तु सायोगिक अवस्था में रहते हुए निमित्त से प्रभावित नहीं होते, इस मान्यता में समारोपण है, वास्तविकता नहीं है ।

मनुष्य में प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति अधिक होती है । साधारण व्यक्ति के लिए सूक्ष्म तक पहुंचना सुगम नहीं होता, इसलिए वह स्थूल के प्रति अधिक आग्रही होता है । विकासशील व्यक्ति स्थूल में बहुत सार नहीं

देखता, इसलिए वह सूक्ष्म के प्रति आग्रही होता है। जब सूक्ष्म की उपासना अधिक हो जाती है, तब मनुष्य का झुकाव स्थूल की ओर होने लगता है। जब स्थूल की उपासना अधिक होने लगती है तब मनुष्य का झुकाव सूक्ष्म की ओर होने लगता है। ये दोनो एकागी आचरण की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तिया हैं। इनसे बचने का उपाय है, सूक्ष्म और स्थूल का सतुलित उपयोग। साध्य साधनो की अपेक्षा सूक्ष्म, दूरगामी और दुर्लभ होता है। स्थूलतम से स्थूलतर और स्थूल तक पहुचने के बाद हम एक नया मोड ले लेते हैं और सूक्ष्म की भूमिका मे पहुच जाते हैं।

अग्नि की उपासना करने वाला शीतलता की अनुभूति नही कर सकता, क्योकि शीतलता और उष्णता परस्पर-विरोधी धर्म हैं। फिर अन्धकार की उपासना करने वाला प्रकाश कैसे पा सकता है? हमारी आत्मा का शुद्ध रूप अक्रियात्मक है। वही हमारा साध्य है। क्रिया अक्रिया की विरोधी है। इस स्थिति मे हम क्रियात्मकता के द्वारा अक्रियात्मकता की ओर कैसे बढ सकते हैं? जो जिसका साधन नही उसके द्वारा हम साध्य की सिद्धि कैसे कर सकते हैं? यदि क्रियात्मकता अक्रियात्मकता की उपलब्धि का साधन हो तो फिर उनमे कोई स्वरूप-भेद ही नही रहेगा।

इस प्रश्न-पद्धति पर कटाक्ष करना कठिन है। अन्धकार से प्रकाश मिल सकता है, इसकी पुष्टि के लिए मेरे पास कोई तर्क नही है। किन्तु क्रिया और अक्रिया मे आत्यन्तिक विरोध ही है, यह मुझे स्वीकार नही है। अक्रिया का अर्थ क्रियान्तर है किन्तु अभावात्मकता नही है। जिसका अस्तित्व है, वह निष्क्रिय नही हो सकता और जो निष्क्रिय है, उसका अस्तित्व नही हो सकता। अस्तित्व और निष्क्रियता मे आत्यन्तिक विरोध है। सत् का लक्षण है सक्रियता। सक्रियता के बिना सत् की व्याख्या ही नही की जा सकती। मुक्त होने पर आत्मा निष्क्रिय नही होती, सक्रिय रहती है। उसे अक्रिय अमुक-अमुक क्रिया से मुक्त होने के कारण कहा जाता है। मुक्त आत्मा खाने की क्रिया से मुक्त हो जाने के कारण अक्रिय हो जाती है, किन्तु ज्ञानात्मक प्रवृत्ति की निरतरता के कारण वह सतत सक्रिय

रहती है। प्यास के अभाव मे वह जलपान के सुख से वंचित हो जाती है, किन्तु सहज आत्मानन्द से वह कभी वंचित नही होती।

हमारा अस्तित्व क्रियाशील है और वह हर स्थिति मे क्रियाशील रहेगा। क्रियाशीलता हमारा सहज स्वभाव है। उसमे कोई परिवर्तन नही होगा। परिवर्तन केवल क्रियाओ मे हो सकता है। एक क्रिया समाप्त और दूसरी क्रिया प्राप्त होती है, तब पूर्व क्रिया की अपेक्षा हम उत्तरवर्ती परिणति को अक्रियता कह देते हैं। क्रिया की इस व्यापक समझ के बाद हम सत्य के इस द्वार तक पहुच जाते है कि क्रिया केवल बन्धन का ही हेतु नही है, वह मुक्ति का भी हेतु है। वह केवल अन्धकार ही नही है, प्रकाश भी है। उक्त चर्चा को हम इस भाषा मे भी समेट सकते हैं कि अमुक प्रकार की सक्रियता (मुक्त अवस्था) को अमुक प्रकार की सक्रियता मे साध सकते हैं। यह सिद्धान्त अक्रिया से अक्रिया की उपलब्धि का नही किन्तु अमुक प्रकार की सक्रियता से अमुक प्रकार की सक्रियता की उपलब्धि का है। इसमे क्रिया का सर्वथा प्रतिषेध नही होता। किन्तु क्रिया की अमुक श्रेणी का प्रतिषेध होता है अर्थात् साध्य सक्रियता की प्रतिपक्षी सक्रियता का प्रतिषेध और साध्यानुकूल सक्रियता का स्वीकरण होता है। पवित्र क्रिया को आत्म-पवित्रता की प्रतिपक्ष कोटि मे नही रखा जा सकता, इसलिए क्रिया हमारे जगत् मे सर्वथा परिहार्य नही है। सूक्ष्म क्रिया की उपलब्धि होने पर स्थूल क्रिया स्वय निवृत्त हो जाती है। किन्तु सूक्ष्म क्रिया की उपलब्धि से पूर्व स्थूल क्रिया को छोडने का प्रयत्न आत्मघाती हो सकता है।

२८ : सत्य, सम्प्रदाय और परम्परा

उन लोगो मे सत्य की जिज्ञासा का दीप बुझ चुका है, जो मानते हैं कि हम वही कहे जो कहते आए है, वही करें जो करते आए हैं। ऐसा मानने वाले सत्य को पा चुके हैं। उनके लिए अब कुछ शेष नही है—सत्य प्राप्य नही है। किन्तु प्रश्न होता है—क्या हम अशेष सत्य को पा चुके हैं? यदि पा चुके हैं तो हमारे लिए साधना अपेक्षित नही है। साधना की अपेक्षा यही तो है कि हम प्राप्त सत्य को स्वीकार करें और अप्राप्त सत्य के लिए चलें।

धार्मिक जगत् मे एक बहुत बडी आत्म-भ्रान्ति पनपी है। उसका आधार है आग्रह। अपनी मान्यता के प्रति वह आग्रह इस आकार मे हो कि मैं मानता हू वह सत्य है, तो फिर वह निरापद भी हो सकता है किन्तु मैं मानता हू उसके सिवा शेष सब मानते हैं, वह असत्य है—यह आकार निरापद नही है। आज अधिकाशत यही आकार चल रहा है। इसीलिए सम्प्रदाय परस्पर-विरोधी बन रहे हैं।

सम्प्रदाय परम्परा के वाहक होते हैं। प्रभावशाली आचार्य की विचार-धारा का आकार सम्प्रदाय और उसका अनुगमन परम्परा हो जाती है। हर सम्प्रदाय और परम्परा का सत्याश से सम्बन्ध होता है। कोई सत्य से अधिक सम्बद्ध होता है और कोई कम। किन्तु पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति तो व्यक्ति के आत्मोदय मे ही होती है। सत्य-जिज्ञासु मुख्य रूप से साध्योन्मुख होता है और गौण-रूप से साधनोन्मुख। साम्प्रदायिक व्यक्ति

मुख्य रूप से साधनोन्मुख होता है और गौण-रूप से साध्योन्मुख।

सम्प्रदाय मे रहने वाला कोई सत्य-जिज्ञासु नही होता और सम्प्रदाय मे न रहने वाला कोई आग्रही या रूढ नही होता, यह मानना भी भ्रान्ति है। यदि सम्प्रदाय और सत्य-जिज्ञासा मे विरोध होता तो आज तक या तो सम्प्रदाय का अस्तित्व मिट जाता या सत्य-जिज्ञासा निश्शेष हो जाती। दोनो का अस्तित्व है। इसका अर्थ है कि सम्प्रदाय और सत्य-जिज्ञासा मे विरोध नही है।

सम्प्रदायो मे इसलिए विरोध नही है कि वे भिन्न विचारधारा के पोषक हैं किन्तु विरोध इसलिए है कि उनका अनुगमन करने वालो मे सत्य की जिज्ञासा कम है।

यदि हम चाहते है कि सम्प्रदायो मे समन्वय हो, सामजस्यपूर्ण स्थिति हो, मैत्री हो तो हमे इस चाह से पहले यह चाह करनी चाहिए कि साम्प्रदायिक लोगो मे सत्य की जिज्ञासा प्रदीप्त हो। आज सत्य की जिज्ञासा कितनी मद है, इसे मैं जैन-सम्प्रदायो की वर्तमान मनोदशा से ही व्यक्त करूगा।

आज जैन साधुओ के आचार-व्यवहार मे कोई थोडा-सा परिवर्तन होता है तो अनेक लोग सशयालु बन जाते हैं। उनके मुह पर एक ही प्रश्न होता है—'यह कैसे हुआ ? पहले तो ऐसा नहीं किया जाता था, अब कैसे किया जा रहा है ?' अब ऐसा करना उचित है या अनुचित—यह प्रश्न कम होता है। उचित-अनुचित की मीमासा की जा सकती है पर 'पहले नही था और अब है' की कोई मीमासा नही हो सकती।

इस मनोदशा के कारण ही बहुत बार अपेक्षित परिवर्तन करने मे भी जैन आचार्य सकुचाते हैं। परम्परा मे प्राण हो, उसे बदलना बुद्धिमत्ता नहीं है, किन्तु निष्प्राण परम्परा को चलाते रहना भी बुद्धिमत्ता नही है।

आज अनेक जैन मनीषी इस सन्देह-दशा को पाल-पोष रहे हैं कि प्रस्तुत अर्थ-परम्परा सगत नहीं है, फिर भी वे उसे बदलने मे इसलिए सकुचाते हैं कि वह बहुत लम्बे समय से चलती आ रही है। जो परम्परा सत्य की

लम्बी अवधि मे पल-पुस जाती है, सस्कार की आच मे पक जाती है, वह शाश्वत सत्य जैसी अपरिवर्तनीय हो जाती है। किन्तु सत्य की माग भिन्न है। कोई भी कृत नियम अनन्त या निरवधिक नही है। जो कृत है वह मावधिक है। निरवधिक वही है जो अकृत है—स्वाभाविक है। देश, काल और परिस्थिति के सन्दर्भ से मुक्त कोई परम्परा नही है। हम पर्युषण (सम्वत्सरी) पर विचार करें। पर्युषण ढाई हजार वर्ष पुरानी वर्षाकालीन स्थिति का सूचक है। आज उसके साथ अनेक कल्पनाए जुड गई हैं। उन कल्पनाओ का परिणाम यह है कि आज वह विवादास्पद है। किसी परम्परा मे उसके लिए चतुर्थी का दिन मान्य है तो किसी मे पचमी का और किसी मे चतुर्दशी का। पचमी को मान्य करने वाली परम्पराओ मे भी कोई परम्परा उदित तिथि के अनुसार पचमी को पर्युषण करता है तो कोई घडियो मे आयी तिथि के अनुसार चतुर्थी को पर्युषण ही कर लेता है। पर्युषण का मूल तत्त्व कही रह गया है और वह कब होना चाहिए—यह प्रश्न मुख्य बन गया है। इस प्रकार न जाने और भी कितने प्रश्न, जो गौण थे वे मुख्य और जो मुख्य थे वे गौण बने हुए हैं। इन प्रश्नो का समाधान परम्परा को सत्य से सम्बद्ध करने पर ही प्राप्त हो सकता है। जो सत्य हमे कल तक नहीं मिला वह आज मिल सकता है और जो आज नही मिला, वह कल तक मिल सकता है। सत्य की शोध और उपलब्धि तब तक होती रहेगी जब तक मनुष्य का अस्तित्व रहेगा।

उपलब्ध सत्य के प्रति हम जितने आस्थावान् हैं, उतने ही आस्थावान् अनुपलब्ध सत्य के प्रति रहे तो हमारी अनेक समस्याए सुलझ जाए। सत्य की उपलब्धि का राजपथ आध्यात्मिक चेतना का जागरण है। हमारी आध्यात्मिक अनुभूति जितनी तीव्र होगी, उतनी ही हमारी बुद्धि आग्रहहीन होगी। आग्रह से बढकर सत्य का कोई सघन आवरण नहीं है। वह आध्यात्मिक भावना मे अपरिष्कृत बुद्धि मे पनता है। यदि हम चाहते हैं कि धर्म-सम्प्रदायो मे एकता हो, वैमनस्य का विसर्जन हो, तो आध्यात्मिक विकास की प्रक्रियाओ को प्राथमिकता दें। उनका विकास चाहे-अनचाहे एकता या समन्वय का विकास है और उनका ह्रास चाहे-अनचाहे एकता या समन्वय का ह्रास है।

२९ शाश्वत सत्य और युगीन सत्य

जब से मनुष्य का बौद्धिक विकास हुआ है तब से सत्य की चर्चा चलती रही है। दर्शन की भूमिका पर सत्य की तीन धाराएं हैं—शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद और शाश्वत-अशाश्वतवाद।

पहली धारा के प्रतिपादक कूटस्थ नित्यवादी हैं। वे मानते हैं—मूल तत्त्व नितान्त शाश्वत है, उसमें कहीं परिवर्तन का अवकाश नहीं है।

दूसरी धारा के प्रतिपादक क्षणिकवादी हैं। उनके मतानुसार जो है वह सब प्रतिक्षण परिवर्तित होता है।

तीसरी धारा के प्रतिपादक अनेकान्तवादी हैं। वे प्रत्येक तत्त्व को शाश्वत और अशाश्वत—इन दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं।

भाषा के प्रयोग में स्पष्टता देश, काल और व्यक्ति के सन्दर्भ में ही आती है। उसके बिना पूर्ण अर्थ नहीं मिलता। 'मैं जाऊंगा'—इसमें अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है जब तक यह न कहूं कि अमुक गांव जाऊंगा, अमुक समय में जाऊंगा।

'अमुक व्यक्ति नहीं है'—इस वाक्य में उसका अस्तित्व तो है पर जिस क्षेत्र में हम उसे देखना चाहते हैं उस क्षेत्र में वह नहीं है, यह देशकृत अनित्यता है। 'अभी नहीं है'—यह कालकृत अनित्यता है। जो वस्तु देश और काल में अबाधित होती है, वह शाश्वत है। शाश्वत हर देश और हर काल में उपलब्ध होता है। जितने तत्त्व हैं वे सब शाश्वत हैं। दुनिया में जितना

था उतना ही है और उतना ही रहेगा। न एक परमाणु घटता है और न एक परमाणु बढता है। मूल तत्त्व शाश्वत हैं और विस्तार युगीन है।

अधिकाश धार्मिक अपने नियमो को शाश्वत मानते हैं। चितन किए बिना हर वस्तु को शाश्वत कहा जा सकता है पर वस्तुवृत्या क्या कोई विस्तार शाश्वत होता है? हम कहते हैं—धर्म शाश्वत है। आखिर धर्म स्वय मे क्या है? मनुष्य हर तथ्य को भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करता है। भाषा के आधार पर बने नियम और परिभाषा शाश्वत कैसे होगी, जबकि भाषा स्वय अशाश्वत है? शाश्वत वह है जो स्वाभाविक है। धर्म, जो आत्मा की सहज पवित्रता है, वह शाश्वत है। धर्म का प्रतिपादन करने के लिए जितनी परिभाषाए और नियम बने हैं, वे शाश्वत कैसे हो सकते हैं? आज तक धर्म की जो परिभाषाए बनी हैं, उनमे क्या कोई शाश्वत रही है? जो कृत होता है, वह शाश्वत नही होता। परिभाषाए मनुष्यकृत हैं, इसलिए वे शाश्वत नही हो सकती। कहा जाता है—अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत हैं। प्रश्न है अहिंसा है क्या? जहा आकार होता है, वहा शाश्वतता समाप्त हो जाती है। अहिंसा आत्मा की सहजता है, वह शाश्वत हो सकती है।

सस्कार सदा अतीत की ओर ले जाता है। साम्यवादी, जो शास्त्र को नही मानते, वे भी शास्त्र की दुहाई देते हैं। महान् विचारक माओ कहते हैं—रूस सशोधनवादी हो गया है, क्योकि वह लेनिन की विचारधारा से हट गया है। एक ओर वे शास्त्र को अस्वीकार करते हैं और दूसरी ओर उनसे चिपके हुए हैं। चीन ने सामन्तशाही परम्परा को बदला, किन्तु उस परिवर्तन मे जो सिद्धान्त काम मे लिये गये उन्हे शाश्वत मान लिया।

शकराचार्य ने शास्त्र-वासना को काम-वासना की कोटि मे रखा है। मनुष्य मे शब्दो की पकड अधिक होती है। अतीत, अभ्यस्त और प्राचीन के प्रति मोह होता है। सद्यस्क के प्रति उतना लगाव नही होता, जितना चिर-पुराण के प्रति होता है। वह वर्तमान मे जीता है पर वर्तमान की अपेक्षा अतीत को अधिक देखता है। इसलिए जो युग-सत्य आता है उसे समझने

मे कठिनता होती है। जो वस्तु अपना कार्य कर चुकी, उसके प्रति हमारा सम्मान हो सकता है, पर उसकी नियामकता कैसे हो सकती है?

जिसकी उपयोगिता समाप्त हो गई, उससे चिपके रहना बुद्धिमानी नहीं है। विकास उनमे होता है, जो परिवर्तन की वात सोचते हैं। अशाश्वत को शाश्वत मान उसमे परिवर्तन नही करते, वे रूढ वनकर कुछ खोते ही हैं।

३०: आग्रह और अनाग्रह

विकास पहला सूत्र है आग्रह का और विकास का पहला सूत्र है अनाग्रह। अनाग्रह और आग्रह दोनो अत्यन्त उपादेय है। अपनी-अपनी भूमिका मे आग्रह के स्थान मे अनाग्रह और अनाग्रह के स्थान मे आग्रह होने पर विकास का क्रम रुक जाता है।

आग्रह के समर्थन का स्वर कण-कण मे मुखरित है। एक आदमी हिन्दुस्तान का नागरिक है। यदि उसके मन मे हिन्दुस्तान की सुरक्षा के प्रति आग्रह नही होगा तो क्या हिन्दुस्तान की प्रभुसत्ता सुरक्षित रह जाएगी?

एक आदमी की मातृभाषा बंगाली है। यदि उसके मन मे बंगाली भाषा के प्रति आग्रह नही होगा तो क्या उसका विकास सम्भव होगा?

एक आदमी जाति मे क्षत्रिय है। यदि उसके मन मे क्षत्रिय जाति के प्रति आग्रह नही होगा तो क्या उस जाति का भविष्य बहुत उज्ज्वल रहेगा?

एक आदमी जैन-धर्म का अनुयायी है। यदि उसके मन मे जैन-धर्म के प्रति आग्रह नही होगा तो क्या उस धर्म का अस्तित्व प्रभावशाली बना रहेगा?

कोई भी मनुष्य किसी एक के प्रति आग्रही नही होगा तो वह किसी का नही होगा। उसका कोई देश, भाषा, जाति और धर्म नही होगा। वह किसी देश, भाषा, जाति और धर्म का होकर उसका भला नही कर सकेगा। इस सचाई के सन्दर्भ मे आग्रह का होना अत्यन्त अनिवार्य है।

पाकिस्तान के कर्णधार श्री जिन्ना के मन मे पाकिस्तान के निर्माण का आग्रह नही होता तो विश्व के मानचित्र पर पाकिस्तान नामक राष्ट्र का अस्तित्व नही होता।

दक्षिण वियतनाम और उत्तर वियतनाम की लडाई केवल वैचारिक आग्रह के आधार पर चल रही है।

साम्यवादी दल के दो गुट—दक्षिणपथी और वामपथी, केवल वैचारिक आग्रह के आधार पर हुए हैं।

सारा विश्व लोकतत्री और साम्यवादी—इन दो खेमो मे विभक्त हुआ है, उसका हेतु भी वैचारिक आग्रह है।

आग्रह के इन विभिन्न स्वरो मे सामजस्य स्थापित करना और उनके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय देना मतभेद से मुक्त नही है। प्रस्तुत प्रकरण मे व्यावहारिक घटनाओ को एक ही कसौटी से कसने की मनोवृत्ति सर्वाधिक नही है। आग्रह और अनाग्रह की सैद्धान्तिक स्थापना विवाद-वन्य से उन्मुक्त हो सकती है।

सत्य की खोज के लिए हमारी बुद्धि मे अनाग्रह होना चाहिए किन्तु उपलब्ध सत्य के आचरण का आग्रह अवश्य होना चाहिए। ऐसा हुए विना हम सत्य को जान सकते है, पा नहीं सकते।

यदि सत्य के प्रति हमारा आग्रह हो तो हम समस्याओं का पार पा सकते है।

३१ : अध्यात्म-बिन्दु

१ आकाश इतना ही नही है

आकाश असीम है, इस सत्य से मैं परिचित हू । फिर भी मैं उसे बाधने का प्रयत्न करता रहा हू । मैंने आकाश को बाधा है, वह मेरा घर है । मेरे घर मे आकाश है पर आकाश इतना ही नही है । वह मेरे घर से बाहर भी है । मेरा घर मुझे आश्रय देता है, धूप से बचाता है, सर्दी-गर्मी से सुरक्षा करता है, इसलिए मैं उसे अपना मानता हू, उसकी सुरक्षा करता हू । किन्तु मुझे यह मानने का कोई अधिकार नही कि दूसरे के घर मे आकाश नही है ।

धार्मिक वह है जिसमे सत्य की जिज्ञासा है । धार्मिक वह है जो सत्य की खोज करता है । धार्मिक वह है जो सत्य का आचरण करता है । जिसमे सत्य की जिज्ञासा नही है किन्तु वह धार्मिक है, इसका अर्थ हुआ कि लौ नही जलती किन्तु दीप प्रकाश कर रहा है । जिसमे सत्य को खोजने की वृत्ति नही है किन्तु वह धार्मिक है, इसका अर्थ हुआ कि मार्ग मिला ही नही किन्तु नगर मिल गया । जिसमे सत्य का आचरण नही है किन्तु वह धार्मिक है, इसका अर्थ हुआ कि पानी पिया ही नही किन्तु प्यास बुझ गई ।

२ दर्शन

हम देखें और सोचें । जब हम देखते हैं तब सोच नही पाते और जब हम सोचते हैं तब देख नही पाते । जब हम निर्विचार होते हैं तब देखने की स्थिति मे चले जाते हैं और जब हम देखते है तब अपने आप निर्विचार हो जाते हैं । विचार-सयम का स्वाभाविक सूत्र है—देखना ।

देखने मे भाषा नही होती। सोचने मे भाषा होती है। अभाषा एक होगी, भाषा भिन्न होगी। गहरे निरीक्षण से एकाग्रता सहज ही सध जाती है। हम दूर को देखें या निकट को, शरीर के भीतर देखें या बाहरी वस्तु को, वह सब होगा वर्तमान। अतीत को नही देखा जा सकता और भविष्य को भी नही देखा जा सकता।

३ दृष्टि और कृति

आज समूचा विश्व समस्याओ से ग्रस्त है। लगता है एक नाटक खेला जा रहा है। उसमे द्रष्टा नीचे दब गया है और दृश्य ऊपर आ गया है। यह सुषुप्ति की दशा है। मनुष्य जिस दिन जाग उठेगा, समस्या की गाठ खुल जाएगी। दृश्य का अस्तित्व सनातन है। उसका लोप नही होगा। उसके विलोप का प्रयत्न नही करना है। हमे जो करना है वह केवल द्रष्टा और दृश्य के सम्बन्ध का परिष्कार है। दृश्य की अनुभूति मे द्रष्टा अपने अस्तित्व को विस्मृत कर देता है, यह अस्वाभाविक सम्बन्ध है। यही समस्याओ का मूल है। द्रष्टा की स्वानुभूति से दृश्य की अनुभूति सपृक्त होती है, यह सम्बन्ध की सगति है।

द्रष्टा और दृश्य की विसम्बन्ध-दशा मे मनुष्य जो देखता है वह करता नही है और जो करता है वह देखता नही है। वह मायावी दशा है। उसमे देखना और करना अलग अलग हो जाते हैं। द्रष्टा और दृश्य की सुसम्बन्ध दशा मे मनुष्य जो देखता है, वही करता है और जो करता है, वही देखता है। यह ऋजुदशा है। इसमे देखना और करना अलग-अलग नहीं होते।

४ व्यक्तिवाद

सूर्य ! तुम मुझे प्रिय नही हो। तुम प्रकाशात्मा हो। सारा भूमण्डल तुम्हारे प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है। अधकार विलीन हो जाता है।

तुम जागृतात्मा हो। तुम्हारे आने पर सोए आदमी जाग उठते हैं, नींद विलीन हो जाती है।

तुम अभयात्मा हो । तुम्हारे आने पर घरो के द्वार खुल जाते हैं। भय विलीन हो जाता है ।

तुम गति के प्रेरक हो। तुम्हारे आने पर आकाश पक्षियो से भर जाता है और पथ मनुष्यो से । निष्क्रियता सक्रियता मे बदल जाती है ।

फिर भी तुम मुझे प्रिय नही हो और इसलिए नही हो कि तुम सारे ग्रहो पर आवरण डाल अकेले चमकना चाहते हो। समूचे समाज पर आवरण डालने वाला क्या कोई प्रिय हो सकता है? सूर्य अकेला चमकना चाहता है, इसलिए शायद वह क्रूर हो।

कोई भी व्यक्ति क्रूर हुए विना समाज का सर्वस्व अकेला वटोरना नही चाहता। इसलिए व्यक्ति मे अहिंसा और अपरिग्रह का अनुवन्ध है। जिस व्यक्ति मे अहिंसा का भाव नही होता—समानता का मनोभाव नही होता, वह सग्रह से विमुख नही हो सकता । सग्रह की प्रेरणा हिंसा है, विपमता है।

५ अपूर्णता का आनन्द

यदि व्यक्ति पूर्ण हो जाए तो फिर पुरुपार्थ के लिए अवकाश कहा रहेगा? आग के लिए ईंधन आवश्यक है। यदि मनुष्य को भूख न लगे तो वह निकम्मा होकर पडा रहेगा। उसे भूख लगती है, इसलिए वह जागता है। मजदूर मिल जाने के लिए जल्दी उठता है। अध्यापक पढाने के लिए कॉलेज जाने की जल्दी मे है। किसान खेत मे जाता है। यदि व्यक्ति पूर्ण हो जाए तो सब निठल्ले हो जाएगे। पुरुपार्थ का आधार है अपूर्णता। आनन्द अपूर्ण रहने मे ही है, पूर्णता मे नही। पूर्ण भगवान् को रहने दो, व्यक्ति के लिए अपूर्णता ही अच्छी है। यदि अपूर्णता नही होती तो समुदाय नही वनता। पण्डाल एक खभे से खडा हो जाता तो इतने खभो की आवश्यकता नही होती। यदि मनुष्य एक पैर से चलता तो दूसरे पैर की आवश्यकता नही होती। दूसरे की आवश्यकता है, यही सापेक्षता है। अपूर्णता के साथ सापेक्षता जुडी हुई है। आश्चर्य है कि व्यक्ति अपूर्ण होते हुए भी निरपेक्ष-भाव से सोचता है। अपनी कोठी दस लाख की वनाता है।

कोठी के बाहर पडोस मे गन्दी नाली बहती है, उसकी उसे चिंता नही है। क्या वह उसकी गन्दी हवा मे बच सकता है ?

आजकल कोठी मे रहने वाले बन्द खिडकी मे रहते हैं, क्योंकि प्रकाश बिजली से और हवा पखे मे मिल जाती है। वे जनता के साथ सम्पर्क नहीं रखते। आज व्यक्ति इतना व्यक्तिवादी बन गया है कि वह सम्पर्क-सूत्र को काट रहा है। किन्तु जो प्रकृति से अपूर्ण है, वह जगत् मे सम्पर्क विच्छिन्न कर क्या जी सकता है ?

६ सम्पर्क-सूत्र

हमारी चेतना के दो रूप हैं—व्यक्त चेतना और अव्यक्त चेतना। मनोविज्ञान मन को तीन भागो मे विभक्त करता है—अवचेतन मन, अर्धचेतन मन और चेतन मन। अव्यक्त चेतना जगमगाता सौरपिण्ड है, प्रकाश राशि है।

कल मैंने देखा, नदी का पूर आ रहा था। पास मे नाले थे। नालो मे पानी उतना ही था जितना कि अवकाश था। पानी के प्रवाह और बिजली के प्रवाह की समान गति है। हमारे पास चेतना को व्यक्त करने के छह साधन हैं—पाच इन्द्रिया और मन। ये छह सम्पर्क सूत्र हैं। ये बाह्य जगत् से सम्पर्क कराने मे पटु हैं। मैं देखता हू तो सारा जगत् मेरे लिए दृश्य बन जाता है। मैं बोलता हू तो मैं वक्ता और आप श्रोता बन जाते हैं। इनके माध्यम से बाह्य जगत् के साथ मेरे अन्तर् मन का सम्बन्ध जुडता है।

७ विज्ञान और अध्यात्म

मनुष्य का स्वभाव है कि वह अज्ञात को ज्ञात करना चाहता है। इसीलिए उसमे सत्य-शोध की वृत्ति का विकास हुआ है। अखण्ड सत्य मे अध्यात्म और विज्ञान दोनो समाविष्ट हो जाते हैं।

जब से मनुष्य ने जाना है, तब से उसने प्रयोग भी किए हैं। प्रायोगिक ज्ञान ही विज्ञान है। मान्यता या ज्ञान विज्ञान नही है। तर्कशास्त्र मे उसे विकल्प कहा जाता है। विज्ञान भी तथ्य को पहले पूर्व-मान्यता के रूप मे स्वीकार करता है, फिर प्रयोग के द्वारा उसे सिद्ध करता है। जो प्रयोग द्वारा प्रमाणित नहीं होता, वह असत्य सिद्ध हो जाता है।

वैज्ञानिक वोध विश्लेष और सश्लेप की प्रक्रिया तथा उसके लब्ध परिणाम से होता है। अध्यात्म का वोव प्रत्यक्षानुभूति से प्राप्त होता है। यही इन दोनों मे अन्तर है।

८ अनशन

अनशन आत्महत्या है—इमे मैंने पकडा है पर यह नही पकड सका आत्म क्या है ? मैंने देह को ही आत्म मान रखा है इसलिए मैं देह-पात को ही आत्महत्या मान वैठा हू। क्या चैतन्य का प्रदीप आत्म नही है ? क्या दर्शन का वातायन आत्म नही है ? क्या पवित्रता का प्रकोष्ठ आत्म नही है ? देह का भारवहन इसलिए है कि चैतन्य का प्रदीप जलता रहे, दर्शन का वातायन खुला रहे और पवित्रता का प्रकोष्ठ भरा रहे। यदि ऐसा न हो, प्रदीप के वुझने, वातायन के वन्द होने और प्रकोष्ठ के खाली होने की स्थिति प्राप्त हो तो देह के भारवहन की मर्यादा अपने आप टूट जाती है।

यह आत्महत्या नही है, किन्तु आत्म-सयम है। यही है अनशन अर्थात् जिसके लिए देह है उसी की सुरक्षा के लिए देह का विसर्जन।

मानसिक शान्ति के सोलह सूत्र

[१९६६ मे दिल्ली मे २१ दिवसीय अणुव्रत-शिविर की समायोजना हुई। उस शिविर मे अनेक भाई-बहन सम्मिलित थे। नगर के भी अनेक व्यक्ति आते-जाते रहते थे। श्री जैनेन्द्रकुमार जैन उसमे सहभुक्त थे। दादा धर्माधिकारी एक सप्ताह तक वहा रहे थे। प्रात कालीन दो घटे का समय चर्चागोष्ठी के लिए सुनिश्चित था। उनमे अनेक साधना-बुद्धि-चैतसिक व्यक्ति भाग लेते थे।

उस चर्चा-गोष्ठी मे जो विचार प्रस्तुत किए वे इन अग्रिम पृष्ठो मे प्रस्तुत हैं।]

व्यक्तिगत साधना के आठ सूत्र

१ : उदर-शुद्धि

सुखी और स्वस्थ जीवन का माध्यम उदर है। जितने रोग होते हैं, वे प्राय उदर-विकृति के कारण ही होते हैं। आरोग्य की जड उदर है। उदर की शुद्धि का सम्बन्ध तीन से है। वे हैं—**आहार, निहार और विहार।**

आहार

अधिकाश लोग अनियमित आहार करते हैं, कभी कम करते हैं तो कभी अधिक। कभी विरुद्ध भोजन करते हैं तो कभी असतुलित। शरीर-शास्त्रियो की दृष्टि से भोजन न अति मात्रा मे होना चाहिए और न हीन-मात्रा मे। कम खाना भी मलोत्सर्ग मे रुकावट पैदा करता है। अतिमात्र आहार करना तो हर दृष्टि से दोषपूर्ण है। भोजन आमाशय मे जाता है। आमाशय अपनी शक्ति के अनुसार ही उसका घोल बनाता है। अधिक मात्रा होने से कुछ घोल कच्चा रह जाता है जिसे आम कहते हैं। आम का सचय होने से उदरशूल, गैस, सिरदर्द आदि कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

अध्यशन आहार का एक दोष है। पहले खाया हुआ पचा नही, उसी बीच और खाना अध्यशन है। सम्भव हो तो पाच घटे या कम से कम तीन घटे पहले दूसरी बार अन्न न खाया जाए। यह सामान्य मर्यादा रही है। कुछ हल्के भोजन जल्दी पच जाते हैं, पर अन्न तीन घटे पहले नही पचता। पचने से पूर्व खाने से घोल कच्चा ही रह जाता है। प्राचीनकाल मे भोजन

दो बार किया जाता था, कभी-कभी तीन बार भी। किन्तु आजकल इस सिद्धात मे परिवर्तन आ गया है। कई डॉक्टर थोडा-थोडा बार-बार खाने को कहते हैं। उनका आशय सभवत हल्के भोजन से है। अलसर जैसे रोग मे बार-बार खाया जाता है। भस्म रोग मे सब कुछ स्वाहा हो जाता है। अलसर और भस्म बडे रोग है। तीव्र दोष मे छोटे दोष समा जाते है।

भोजन का ऋतुओ से भी सम्बन्ध है। वर्षाकाल मे अग्नि मन्द होती है, इसलिए तपस्या इस ऋतु मे अधिक सुगमता से होती है। शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु मे अग्नि मन्द रहती है। दोनो ऋतुओ मे भोजन का भी अन्तर रहता है। ठूसकर खाने वाले बौद्धिक श्रम नही कर पाते। हल्का भोजन करने वाले अधिक स्वस्थता से वह कर सकते है। रक्त का सचार आनुपातिक होने से उसमे बाधा नही पड़ती। चिन्तन-मनन करने मे रक्त का दौर मस्तिष्क की ओर होने लगता है, इसलिए आतो को वह कम मात्रा मे मिल पाता है। ज्यादा खाने से रक्त का सचार उदर की ओर ज्यादा होता है, इसलिए मस्तिष्क को वह कम मात्रा मे मिल पाता है। दिमाग को शक्ति न मिलने से कुठा आ जाती है। शक्ति-व्यय के आधार पर ही भोजन की मात्रा निश्चित होती है। इसलिए शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम मे भोजन की मात्रा और प्रकार का अन्तर होता है। बार-बार चाय पीना भी स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नही है। इससे स्फूर्ति मिल सकती है पर बल, बुद्धि और वीर्य के लिए यह अनुकूल नही है।

निहार

आहार से अधिक महत्त्व निहार का है। ठीक खाने का महत्त्व तो है पर उससे अधिक महत्त्व है ठीक समय पर उत्सर्ग का।

उत्सर्ग के प्रति कम ध्यान दिया जाता है। उत्सर्ग क्रिया ठीक न होने से अपान वायु दूषित होती है। उससे मानसिक प्रसन्नता नही रहती। गुदा चक्र का मानसिक प्रसन्नता के साथ गहरा सम्बन्ध है। सामान्यत आहार के असार भाग का चौबीस घटे बाद उत्सर्ग होता है और तीन दिन की

अवधि मे तो हो ही जाता है। इस अवधि के बाद भी यदि मल आतो मे रहता है तो उसमे आलस्य, जडता और बुद्धि-मन्दता होती है।

बडी आतें स्पदन के द्वारा मल का विसर्जन करती हैं। तीन कारणो से उसकी गति मे मन्दता आ जाती है—(क) **अवस्था के साथ**, (ख) **वेग-निरोध**, (ग) **अतिभोजन**।

अवस्था के साथ-साथ आतो मे श्लथता आती जाती है। अवस्था-वृद्धि के साथ क्षीण होने वाला अन्त्र-शक्ति का स्पन्दन योग मुद्रा मे पुनः पुष्ट हो जाता है।

वेग-निरोध—समय पर उत्सर्ग न करने से आतें सकेत देना छोड देती हैं। विवशता की परिस्थिति या प्रमाद के कारण कई लोग मल के वेग को रोक लेते हैं। आत के सकेत की बार-बार उपेक्षा करने के कारण वह सकेत देना बन्द कर देती है।

कई लोग बडे गर्व के साथ कहते हैं—हमे दो-दो, तीन-तीन दिन तक मलोत्सर्ग की आवश्यकता का ही अनुभव नही होता। पर वे भूल जाते हैं कि आत के सकेतो की उपेक्षा कर वे उस अनुभूति को खो बैठे हैं।

अतिभोजन—अतिभोजन मे आत श्लथ हो जाती है। वह मल को आगे नही ढकेल पाती। इस प्रकार कोष्ठ-बद्धता हो जाती है। उससे चिंतन मे कुंठा आती है। प्रसन्नता के लिए अनिवार्य है कि मल-सचय न हो। दो दिन तक खाना न खाया जाए तो भी आतो को पचाने के लिए शेष रह जाता है पर मल का उत्सर्ग न हो तो एक दिन मे बेचैनी हो जाती है। अन्त्र मे मल भरा रहने से अपानवायु का द्वार रुद्ध हो जाता है। फिर वह ऊपर जाती है और हृदय को धक्का लगाती है। जिसे हम सामान्यतया हृदय-रोग समझते हैं वह बहुत बार यही होता है। अपने शरीर के ताप-मान से अधिक ठण्डा और अधिक गर्म भोजन भी हानिप्रद होता है। उनसे आत और दात दोनो विकृत होते हैं। भोजन का सम्बन्ध आवश्यकता-पूर्ति से है और उसका सम्बन्ध जब स्वाद से हो जाता है तब मर्यादा का अति-क्रमण और विपर्यय होने लगता है।

विहार

विहार का अर्थ है नियमित उठने-बैठने, सोने-जागने की चर्या। जिस प्रकार एक साथ बहुत ज्यादा खा लेना हानिकर है उसी प्रकार एक साथ बहुत बैठे रहना भी स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकर है। इससे अग्नि मन्द हो जाती है इसलिए इस ओर सजग रहने वाले लोग हर डेढ़-दो घंटे के बाद उठकर इधर-उधर घूम लेते हैं। बहुत बैठे रहना रोग का बहुत बड़ा कारण है, पर इसका यह मतलब भी नहीं कि दिनभर घूमते रहना या खड़े रहना स्वास्थ्य के लिए ठीक है। इसमें भी जीवन-शक्ति क्षीण होती है। वस्तुत हर क्रिया में सन्तुलन होना बहुत आवश्यक है।

जो लोग आसन नहीं करते या घूमते नहीं वे लोग स्वास्थ्य के साथ बहुत अन्याय करते हैं। आसन या घूमने का अर्थ है—आंतों में हरकत पैदा करना। योगमुद्रा भी इसका अच्छा साधन है। वह किसी भी प्रकार से हो पर यदि वह नहीं होती है तो उससे शरीर में विकार पैदा हो जाते हैं। उनमें रक्त गाढ़ा हो जाता है तथा गठिया आदि भयकर व्याधियां मनुष्य को घेर लेती हैं।

सोना स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद है। दीर्घ जीवन का यह स्वर्ण-सूत्र है। चर्चिल ने दीर्घ आयु प्राप्त की, इसका सबसे बड़ा रहस्य यही था। वह अधिकतर लेटे-लेटे ही दूसरों को डिक्टेशन आदि दिया करते थे। प्रश्न है, क्या लेटे-लेटे पढ़ना अच्छा है? नहीं, लेटे-लेटे पढ़ना आंखों के लिए बहुत खतरनाक है। लेटे रहने की अति भी अच्छी नहीं है। अच्छाई उचित मात्रा में है, अति में नहीं।

एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि ज्यादा सिरहाना देने से रक्त-संचार में बाधा आती है; क्योंकि हमारे शरीर में सिर एक ऐसा भाग है जहां रक्त-संचार कम होता है, उस पर भी यदि ज्यादा तकिया दे दिया जाता है तो रक्त को वहां पहुंचने में और भी अधिक बाधा पहुंचती है। मुझे लगा कि यह बात तथ्य से खाली नहीं है। कुछ लोग तकिए के बिना सुखासन निद्रा लिया करते हैं।

प्रश्न—कुछ लोग नीद लेने के लिए बहुत देर तक लेटे-लेते पढते रहते हैं। इससे आखो के स्नायुओ पर तनाव आता है और नीद जल्दी आ जाती है। क्या यह तरीका ठीक है ?

'मुझे इसका अनुभव ही नही, तब मैं कैसे कहू कि यह ठीक है या नही। हा, मैं कह सकता हू कि आखो तथा शरीर को तनाव से मुक्त करना—कायोत्सर्ग करना ठीक है। नीद की चिन्ता करना नीद से दूर भागना है। कायोत्सर्ग करिए, जो होना है वह अपने आप होगा।'

नीद स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक तत्त्व है। क्योकि हर प्रवृत्ति के साथ हमारे शरीर मे विष पैदा होता है। कुछ शरीरशास्त्रियो ने इस सम्बन्ध मे बहुत अन्वेषण किए है। उन्होंने कई प्रकार के विषो का पता भी लगाया है। नीद के द्वारा हम उन विषो को बाहर फेंकते हैं और शरीर की क्षतिपूर्ति भी करते है। नीद कम आती है, उससे कोष्ठ-बद्धता हो जाती है और स्वास्थ्य का सतुलन बिगड जाता है।

मैं प्रासगिक चर्चाओ से मुक्त होकर अब फिर उसी मूल विषय का स्पर्श कर रहा हू। शरीर और मन का गहरा सम्बन्ध है। शरीर का मन पर और मन का शरीर पर असर होता है। शरीर की स्वस्थता का केन्द्र उदर है, अत उदर-शुद्धि के सन्दर्भ को छोडकर इस मानसिक शान्ति की बात सोचें तो वह सोचना पृष्ठभूमि से शून्य होगा।

२ : इन्द्रिय-शुद्धि

अनेक लोगो की शिकायत है कि उनका आत्म-निश्चय टिकता नही। वह बार-बार स्खलित हो जाता है। ऐसा क्यो होता है, इस पर हमे सोचना है।

आत्म-निश्चय के स्खलित होने के कारणो की मीमासा मे आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है

'अनिरुद्धाक्षसन्ताना, अजितोग्रपरीषहा।
अत्यक्तचित्तचापल्या, प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये॥'

जिन व्यक्तियो ने इन्द्रियो के प्रवृत्ति-क्रम का निरोध नही किया या इन्द्रियो को आत्मलीन नही किया, जिन्होने कष्ट-सहन का अभ्यास नही किया और जिन्होने चित्त की चचलता से छुट्टी नही पायी, वे लोग अपने निश्चय से स्खलित हो जाते हैं।

आज हमे पहले कारण पर चिन्तन करना है। इन्द्रियो के प्रवृत्ति-क्रम का निरोध या उनकी लीनता कैसे हो? शरीर-रचना की दृष्टि से मनुष्य पचेन्द्रिय—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र—युक्त है और उपयोग की दृष्टि से वह एकेन्द्रिय है—एक समय मे एक इन्द्रिय का ही सवेदन होता है।

इन्द्रिया दो प्रकार की हैं—ज्ञानात्मक और सवेदनात्मक। श्रोत्र और चक्षु—ये इन्द्रिया सवेदनात्मक नही है, केवल ज्ञानात्मक है। शेष तीन

सवेदनात्मक हैं। आम मीठा है और नीबू खट्टा है—यह ज्ञान है। इनकी अनुभूति खाने से होती है। सवेदना साक्षात् सम्बन्ध के बिना नही होती। ज्ञानात्मक इन्द्रिया अपने विषयो को दूर से जान लेती है। सवेदनात्मक इन्द्रिया को अपने विषय से साक्षात् सम्बन्ध करना होता है।

इन्द्रिया अपने आप मे अच्छी या बुरी नही है। वे मन के सयोग से अच्छी या बुरी बनती हैं। इन्द्रिया वर्तमान का ज्ञान करती हैं और मन त्रिकाल का ज्ञान करता है। मन आख से सबद्ध न हो, उस समय आख खुली होने पर भी अनुभूति नही होती। इन्द्रियो मे सारा प्रकाश मन द्वारा आरोपित होता है। इन्द्रियो की शुद्धि मन शुद्धि से स्वत प्राप्त होती है।

प्राचीन साहित्य मे इन्द्रियो के दमन का उल्लेख मिलता है। आजकल दमन शब्द अप्रिय लगता है, क्योकि दमन का अर्थ अत्याचार समझा जाता है। दमन शब्द के अर्थ का अपकर्ष हो गया है, इसलिए ऐसा लगता है। शमन शब्द का प्रयोग प्रिय है, जबकि दमन और शमन मे कोई अन्तर नही है। सस्कृत मे 'शमु दमु च उपशमे' धातु है। दम का वही अर्थ है, जो शम धातु का है। दूध उफनता है तब पानी के छीटे डालकर उसका शमन किया जाता है। वैसे ही इन्द्रियो के वेग का शमन या दमन किया जाता है। दमन का अर्थ बलात्कार या अत्याचार नही है।

इन्द्रियो की गति बहिर्मुखी है। उन्हे बाहर से लौटाकर अपने-अपने गोलक मे स्थापित करना दमन है। उन्हे कष्ट देने और प्रयोग मे रोकने की बात आत्मविमुखता की बात है। जहा कष्ट-लीनता है, वहा धर्म कैसे होगा? धर्म आनन्दानुभूति है। वह आत्म-लीनता मे हो सकता है।

● **क्या मुनि-जीवन मे कष्ट-लीनता नहीं है ?**

मैं समझता हू नहीं है।

● **क्या कोई कष्ट नहीं आता ?**

आता है, पर कष्ट का आ पड़ना एक बात है और कष्ट की लीनता दूसरी बात है। भगवान महावीर के साधना-काल मे अनेक कष्ट उपस्थित हुए। वे कष्टलीन होते तो उन्हे कभी नही झेल पाते। किन्तु वे आत्म-लीन थे, इसलिए उन्हे झेल सके।

शल्य-चिकित्सा के समय रोगी की स्पर्श-संवेदना मूर्च्छित कर दी गई। पेट चीरा गया। कोई मनुष्य सामने खड़ा है। वह रोगी के कष्ट की कल्पना कर कांप उठता है। पर जो रोगी है, उसे कोई कष्ट नहीं है। उसकी कष्टानुभूति का माध्यम शून्य कर दिया गया है। इस स्थिति में कष्ट की प्रतीति रोगी में नहीं, किन्तु द्रष्टा में होती है।

इसी प्रकार महावीर ने जो कष्ट झेले, उनकी भयंकरता की प्रतीति महावीर को नहीं किन्तु द्रष्टा को हुई। कष्ट की स्थिति को सात्म्य करने पर ही तो कष्ट होगा, अन्यथा कैसे होगा?

जैनेन्द्र—यदि आत्म-लीनता मूर्च्छा जैसी स्थिति है तो वह मुझे प्रिय नहीं हो सकती। उसमें चैतन्य का पुरुषार्थ नहीं है। और जहां चैतन्य का पुरुषार्थ नहीं है, वहां अध्यात्म नहीं हो सकता, ऐसा मैं मानता हूं।

मुनिश्री—मैं आत्म-लीन को चैतन्य की मूर्च्छा नहीं बता रहा हूं। मैं यह बता रहा हूं कि आत्म-लीनता घनीभूत हो जाती है, तब चैतन्य इतना पराक्रमी बनता है कि बाह्य के प्रति शून्यता अपने आप आ जाती है।

जैनेन्द्र—कुछ लोग मादक द्रव्य के प्रयोग को साधना का अंग मानते हैं, वे क्यों गलत हैं?

मुनिश्री—वे इसलिए गलत हैं कि मादक द्रव्यों के सेवन से चेतना मूर्च्छित हो जाती है।

जैनेन्द्र—चेतना की मूर्च्छा आपको पसन्द नहीं है?

मुनिश्री—नहीं, कतई नहीं।

जैनेन्द्र—तब फिर चलिए।

मुनिश्री—मेरी समझ में बाह्य संवेदना को शून्य कर चैतन्य को पराक्रम-विमुख बनाने की स्थिति आत्म-लीनता नहीं है। आत्म-लीनता वह स्थिति है, जहां चैतन्य के पराक्रम के सामने बाह्य स्थिति अकिंचित्कर बन जाती है।

शरीर, इन्द्रिय और मन आत्मा के विरोधी नहीं हैं। वे अचेतन हैं और आत्मा चेतन है। दोनों का अपना-अपना अस्तित्व है। दोनों अपने-अपने

गुण मे स्थित हैं। दोनो को विरोधी मानना हमारी भ्रान्त धारणा होगी। इन्द्रिया बाहर की ओर दौडती हैं, तब कामना जागती है। कामना जागती है, तब मनुष्य उन्हे शत्रु मान बैठता है। हम सोचें, वे बाहर की ओर क्यो दौडती हैं? इसीलिए कि हमारा आत्मा के प्रति गाढ अनुराग नही है। हमारा अनुराग बाहर की ओर है। बच्चा कोई वस्तु खाना चाहता है, शरीर उसका स्वस्थ नही है, इसलिए डॉक्टर या माता-पिता बच्चे को बार-बार रोकते हैं। बच्चे मे खाने के प्रति आसक्ति नही होती तो डॉक्टर या माता-पिता उसे निषेध नही करते। उसके मन मे खाने की तीव्र भावना है, इसलिए निषेध किया जाता है। जैसे डॉक्टर का निषेध बच्चे की आसक्ति मे जुडा हुआ है, वैसे ही सयम व्यक्ति की आसक्ति मे जुडा हुआ है। बच्चा अज्ञानी होता है। इसलिए वह दूसरो द्वारा निषिद्ध होता है, किन्तु ज्ञानी मनुष्य अपनी आसक्ति का स्वय निषेध करता है। यही सयम है।

● क्या सयम नितान्त निरपेक्ष है?

निरपेक्ष नही, किन्तु सापेक्ष है।

● सयम की अपेक्षा क्या है?

जब तक आसक्ति है, तब तक सयम अपेक्षित है। जैसे ही आसक्ति क्षीण हुई, वैसे ही सयम कृतकार्य हो चला। निरपेक्ष मूल्य अपने अस्तित्व का है। शेष वही बचता है। सयम बन्धन नही है। वह मुक्ति है और वह मुक्ति, जिसका उत्स अनुराग है।

'अनुरागाद् विराग'—यह सयम का सिद्धान्त है। जिसके प्रति अनुराग होगा, उसके प्रतिपक्ष मे विराग अपने आप हो जाएगा। आत्मा के प्रति अनुराग, बाह्य के प्रति विराग और बाह्य के प्रति अनुराग, आत्मा के प्रति विराग। बाह्य के प्रति विराग यानी सयम। आत्मा के प्रति विराग यानी असयम। अनुराग की ओर से कोई नियत्रण नही आता, वह विराग की ओर से आता है। जैसे अध्यात्म का पुरुषार्थ प्रबल होता है, वैसे सयम बढता है, नियम कम होते हैं। जैसे अध्यात्म का पुरुषार्थ क्षीण होता है, वैसे सयम घटता है, नियम बढते हैं।

सयम और नियम की दूरी आचाराग सूत्र की भाषा मे इस प्रकार व्यक्त हुई है—नेव से अंते नेव से दूरे—जिसने नियम ले लिया पर वासना नही छूटी, वह न तो दूर है और न नजदीक। बाहरी मर्यादा मे बधा होने के कारण वह करने की स्थिति मे नही है और आकाक्षा से मुक्त नही होने के कारण 'नही करने' की अवस्था को भी प्राप्त नही है, इसलिए वह विषय से न तो दूर है और न नजदीक।

धर्म के दो रूप हैं—स्वीकृत और आत्मोद्भूत। धर्म आत्मा से उद्भूत होता है। कुए का पानी स्वीकृत नही है और वर्षा का पानी स्वीकृत है। धर्म का प्रभाव सहज है। नियम तट बन सकते हैं, किन्तु प्रवाह नही बन सकते।

प्रश्न—वैराग्य से त्याग होता है या त्याग से वैराग्य आता है? सयम से नियम होता है या नियम से सयम आता है?

त्याग से वैराग्य और नियम से सयम आता है, यह कहने मे मुझे कठिनाई का अनुभव हो रहा है। वैराग्य और सयम का मूल अनुराग है, यह मै पहले कह चुका हू। एक के प्रति गाढ अनुराग, दूसरे के प्रति विराग। आत्म के प्रति अनुराग, अनात्म के प्रति विराग। धर्म के प्रति अनुराग, अधर्म के प्रति विराग। वैराग्य हर व्यक्ति को हो सकता है और हर वस्तु से हो सकता है। अनुराग से विराग—इसी सिद्धान्त का प्रयोग इन्द्रियशुद्धि की साधना मे किया जा सकता है।

इन्द्रिय-शुद्धि की समस्या

दृश्य जगत् शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शात्मक है। इसके साथ हमारा सम्बन्ध इन्द्रियो के माध्यम से होता है। दृश्य जगत् के साथ मन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। उसका सम्बन्ध इन्द्रियो के माध्यम से ही स्थापित होता है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का इन्द्रियो के साथ सम्बन्ध होता है, उसे रोका नही जा सकता। रोका जा सकता है उनके प्रति होने वाला अनुराग। उत्तराध्ययन मे एक प्रसग है—शिष्य आचार्य से पूछता है—'भन्ते! धर्म के प्रति श्रद्धा (घनीभूत अनुराग) होने से क्या प्राप्त होता है?' आचार्य कहते हैं—'धर्म के प्रति श्रद्धा होने से सुख—इन्द्रिय-विषयो के प्रति विराग—होता है।' यह वही सिद्धान्त है—धर्म के प्रति अनुराग

और बाह्य के प्रति विराग। सयम की ध्वनि भी यही है। सयम 'यमु उपरमे' धातु से बना है। हमारी लीनता वस्तु के प्रति जा रही थी, वह लौटकर अपने मे आ गई, यही सयम है। सयम मे इन्द्रियो के द्वार बन्द नही होते परन्तु अन्दर के द्वार खुल जाते हैं। पदार्थ के साथ हमारा विरोध नही है। इन्द्रिया और विषय न हमारे शत्रु हैं और न मित्र। वे अपने आप मे जैसे है, वैसे हैं।

जयाचार्य ने 'साधक-बाधक' नामक ग्रन्थ मे लिखा है—प्रवृत्ति साधक भी है और बाधक भी है। जब प्रवृत्ति आसक्ति के स्रोत मे प्रवाहित होती है तो वह सिद्धि मे बाधक बन जाती है। वह अनासक्ति के स्रोत से प्रवाहित होती है तो वह साधक बन जाती है। मन का शरीर के प्रति जो विरोध-भाव है, वह हमारी दुर्बलता के कारण है। दोनो का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। जो दोनो के स्वरूप मे ऐक्य मान रखा है, उसे भिन्न-भिन्न करना है। इसीलिए सकल्प करते हैं कि 'मैं शरीर से भिन्न हू'। आत्मा मे आनन्द अनन्त है। शरीर को कष्ट देने मे वह नही है। यह भाषा बन गई है कि शरीर को जितना कष्ट दोगे उतना ही धर्म होगा। मैं आपसे पूछना चाहता हू, धर्म का सम्बन्ध कष्ट से है या आत्मानुभूति से ? यदि आत्मानुभूति से है, तो कष्ट हो या न हो, धर्म होगा। यदि आत्मानुभूति नही है—चैतन्य का पुरुषार्थ नही है तो कष्ट हो या न हो, धर्म नही होगा। एक व्यक्ति एक मास की तपस्या करता है और पारण मे कुश के अग्र भाग पर टिके उतना खाता है। फिर मास की तपस्या करता है। ऐसे तपस्वी की आत्मा यदि ऋजु नही है तो वह अनन्त जन्म-मरण तक ससार-भ्रमण करता है, मुक्त नही होता। यदि काया को कष्ट देने मात्र से मुक्ति होती तो कभी हो जाती। सहजभाव मे साधना चले, उसमे यदि कष्ट आए तो उन्हे सहन करें। इनसे आध्यात्मिकता प्रज्वलित होगी। इन्द्रियो को कष्ट देना हमारा लक्ष्य नही है। हमारा लक्ष्य है, उन्हे अनासक्ति के स्रोत मे प्रवाहित करना। यह प्रतिसलीनता या प्रत्याहार का सिद्धान्त है। इसके उपयोग से इन्द्रियो की गति बहिर्मुखी कम और अन्तर्मुखी अधिक हो जाती है। फलत

उनकी ग्रहण-शक्ति की मर्यादा बदल जाती है—आवश्यक अंश गृहीत होता है, अनावश्यक अंश परिहृत हो जाता है। इस प्रकार अव्यर्थ और व्यर्थ के बीच एक स्पष्ट रेखा खिंच जाती है।

जैनेन्द्र—इस आत्मलीनता में मुझे बहुत खतरा दिखाई देता है। यह स्व-रति का भाव आगे चल स्वार्थ में बदल जाता है। स्वार्थ की प्रेरणा में मुझे कोई रस नहीं है।

मुनिश्री—आप स्व-रति का जिस अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं, वह आत्मलीनता से भिन्न है। आत्मलीनता से परमार्थ की प्रेरणा प्रबल होती है। स्वार्थ मोह का रूपान्तर है जबकि आत्मलीनता मोह का विसर्जन। आसक्ति का स्रोत कषाय है। कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। कषाय का त्याग नहीं होता। व्यवहार की भाषा में कहते हैं क्रोध का त्याग कर दिया। अग्नि पर राख डालने से वह ढक जाती है पर वह बुझ नहीं जाती। क्रोध का त्याग नहीं होता, वह त्यक्त होता है। चैतन्य उद्बुद्ध होने से क्रोध की क्षमता नहीं रहती। त्याग की भाषा संकल्प की भाषा है और त्यक्त की भाषा संकल्प-सिद्धि की भाषा है। संकल्प की भाषा अन्तर् की भावना का स्पर्श करती है पर तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकती। यदि भाषा और अर्थ में तादात्म्य होता तो 'मैं अहिंसक हूं'—इतना कहने मात्र से हर कोई अहिंसक बन जाता। शब्द के उच्चारण मात्र से अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। यदि होती तो लड्डू का नाम लेने मात्र से पेट भर जाता। किन्तु ऐसा होता नहीं है। संयम और विधि (कानून) में यही अन्तर है। कानून बाहर की भाषा है और संयम अन्तर् की चेतना का जागरण है।

आसक्ति ऋणात्मक (निषेधात्मक) शक्ति है और अनासक्ति धनात्मक शक्ति है। धनात्मक शक्ति मनुष्य का स्वभाव है। इसका विकास होने पर ऋणात्मक शक्ति जो कि स्वभाव नहीं है, अपने आप नष्ट हो जाती है। इन्द्रिय-शुद्धि के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

३ : प्राणापान-शुद्धि

हमारे शरीर मे वायु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उससे शरीर और मन दोनों प्रभावित हैं। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर भी उसका प्रभाव पडता है। वायु के मुख्य प्रकार पाच है—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। इनमे से प्राण और अपान पर हमे कुछ चिन्तन करना है। श्वास लिया जाता है, वह प्राण है और छोडा जाता है, वह अपान है। दोनों का सयुक्त शब्द है, प्राणापान। बौद्ध-साहित्य मे 'आनापानसती' और जैन-साहित्य मे 'आनापान-निरोध' की चर्चा मिलती है।

प्राण का केन्द्र नासिकाग्र है। उस पर मन टिकते ही मूल बध हो जाता है, मूल नाडी तन जाती है। नासिकाग्र पर मन और प्राण के योग की यह निश्चित सूचना है। मूल नाडी के तनने का अर्थ है वीर्य के अधोगमन की समाप्ति और ऊर्ध्वारोहण का प्रारम्भ। मैंने एक डॉक्टर से मूल नाडी के विषय मे पूछा। उसने कहा—हमारे चिकित्सा-शास्त्र मे ऐसी कोई नाडी नहीं है, जिससे वीर्य का ऊर्ध्वारोहण हो। इस विषय पर मैं लम्बे समय तक सोचता रहा कि ऊर्ध्वारोहण के बिना ऊर्ध्वरेता होने की बात सही कैसे होगी? किन्तु अब मैं यह कहने की स्थिति मे हू कि वीर्य का ऊर्ध्वारोहण हो, ऐसी नाडी शरीर मे है और ऊर्ध्वरेता की प्रक्रिया भी सही है।

रेतस् का मूल रक्त है। वह समस्त शरीर मे सचालित होता रहता है। काम-वासना सक्रिय होती है, तब रक्त का प्रवाह वृषण ग्रन्थियों मे

अधिक होता है। और वहा रक्त का रूपान्तरण रेतस् हो जाता है। वह पूर्ण मात्रा मे सचित होकर वासना को उद्दीप्त करता है और अन्त मे क्षरित हो जाता है। उसका क्षरण अपान वायु से होता है। प्राणवायु वश मे हो तो वह क्षरण रुक जाता।

क्षरण रुकने के दो अर्थ हो सकते हैं—वीर्य का न बनना और बने हुए का पाचन होना यानी रूपान्तरण होना।

प्राणवायु वश मे हो तो रक्त का प्रभाव वृषण ग्रन्थियो मे कम होता है। रक्त का प्राण-तत्त्व सीधा ओजस् मे बदल जाता है।

योग-विद्या मे वीर्य का स्तम्भन और वीर्य का आकर्षण—ये दो शब्द प्रचलित हैं। रेतस् का पात होते-होते रुक जाता है, वह स्तम्भन है और रक्त से सात्म्य रहकर मस्तिष्क तक पोष देता है वह आकर्षण है। नवनीत दूध मे व्याप्त है। उससे पृथक् नही है तो दूध दूध कहलाएगा, नवनीत नही। इसी प्रकार रेतस् रक्त मे व्याप्त है। उससे पृथक् नही है तो रक्त रक्त ही कहलाएगा, रेतस् नही। फिर भी दूध मे जैसे नवनीत की सत्ता है, वैसे ही रक्त मे रेतस् की सत्ता है। रेतस् रक्त से अलग न हो और ओज रूप मे बदल जाए, यही ऊर्ध्वरेता होने की प्रक्रिया है। रेतस् का प्राणायाम या सकल्पशक्ति द्वारा ओज रूप मे पाचन या रूपान्तरण करना भी ऊर्ध्वरेता होने की प्रक्रिया है।

शरीर मे सात धातु हैं। सातवी धातु रेतस् है। सातो धातुओ का सूक्ष्म रूप ओज है। वह धातु नही, धातु का सार है। रेतस् का क्षरण अधिक होता है तो ओज कम बनता है और उसका क्षरण कम होता है या वह नही होता है तो ओज अधिक बनता है। ओज की वृद्धि से दृढ निश्चय, धैर्य, सहिष्णुता, कुशाग्रीय प्रतिभा आदि गुण विकसित होते हैं। इस विकास की पृष्ठभूमि मे बहुत बडा कर्तव्य प्राणवायु का है। इसी दृष्टि से मैं कह रहा था कि प्राण हमारी शक्ति का आधार है।

प्राणवायु का स्थान नासाग्र से पादागुष्ठ तक है। उसमे नासाग्र, हृद् और नाभि मुख्य हैं। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दो मे महावीर की मुद्रा के दो

अग माने हैं—पर्यंकासन मे शरीर का शिथिलीकरण और नासाग्र मे दृष्टि का स्थिरीकरण—

'वपुश्च पर्यंकशय श्लथ च, दृशो च नासा नियते स्थिरे च।
न शिक्षितेय परतीर्थनाथै, जिनेन्द्र ! मुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥'

नासाग्र पर ध्यान करने से श्वास के आने-जाने के क्रम का वोध होता है। उमसे प्राणवायु वश मे हो जाता है। प्राणवायु के वश मे होने का अर्थ है—मन और विन्दु (वीर्य) का वश मे होना।

प्राण, मन और विन्दु की विजय-रेखा एक ही है। प्राण की विजय होने से मन और विन्दु की, मन की विजय होने से प्राण और विन्दु की तथा विन्दु की विजय होने मे प्राण और मन की विजय अपने आप हो जाती है। तन्त्रशास्त्र मे प्राण को ज्ञान का नाथ कहा गया है—

'इन्द्रियाणा मनो नाथ, मनोनाथस्तु मारुत ।
मारुतस्य लयो नाथ, स लयो नादमाश्रित ॥'

प्राणवायु के गमनागमन के साथ मन का योग करें और उसमे लीन हो जाए। छह मास के अभ्यास मे क्लेश और दु ख की मात्रा कम हो जाएगी।

प्रक्रिया

नाभि पर दृष्टि टिकाने की दो पद्धतिया ह

(१) सीधा लेटकर सोने के वाद सिर को थोड़ा-सा ऊपर उठाकर नाभि को देखें।

(२) जालधर बध कर नाभि को देखें।

४ अपानवायु और मनःशुद्धि

अपानवायु का मुख्य स्थान नाभि से नीचे और पृष्ठभाग के पार्ष्णिदेश तक है। उसका कार्य है मल, मूत्र, वीर्य आदि का विसर्जन करना अर्थात् वाहर निकालना। उसके विकृत होने से मन मे अप्रसन्नता होती है और उसकी शुद्धि से प्रसन्नता होती है। नीचे के भाग मे होने वाले मस्सा आदि तथा वीर्य-सम्वन्धी रोग अपानवायु दूषित होने से होते हैं, उसकी शुद्धि मे नही होते। अपानवायु का सम्बन्ध पेट-शुद्धि से ही है। पेट की अशुद्धता मे कोष्ठवद्धता हो जाती है तथा कृमि आदि जीव पैदा हो जाते है। उसकी शुद्धि के लिए अश्विनी मुद्रा तथा नाभि पर ध्यान करना श्रेष्ठ प्रयोग है।

शरीर की शक्ति का स्रोत नाभि और गुदा के बीच मे है। अपान को जीतने से शक्ति का स्रोत विकसित होता है। घोडे की शक्ति का रहस्य उसकी सकोच-विकोच की मुद्रा है। अपानवायु दूषित हो जाए तो सौ वार अश्विनी मुद्रा करने से शुद्ध होती है। मूलवन्ध भी इसमे सहयोगी वनता है। प्राणवायु को वाहर निकालकर यथाशक्ति रोकने से भी अपानवायु शुद्ध होती है।

हठयोग का अर्थ है—प्राण और अपान का योग। 'ह'—सूर्य और 'ठ'—चन्द्र—'हठ' का अर्थ है—सूर्य और चन्द्र का मिलना। रहस्यवादी कविगण ने सूर्य और चाद के मिलने की चर्चा की है। सूर्य और चाद का मिलन अर्थात् रात और दिन का मिलाप। सूर्य और चाद का मिलन नाभि मे

होता है। मूलबन्ध के साथ श्वास को नाभि मे ले जाने से प्राण और अपान का योग होता है—वैषम्य का विनाश। वैषम्य ही मानसिक रोग, शारीरिक रोग और पाप है। साम्य ही स्वस्थता और धर्म है। साधु के लिए विधान है कि वह गोचरी से आने के बाद भोजन से पूर्व क्षण-भर विश्राम करे—'वीसमेज्ज खण मुणी'। तेज चलकर आने से धातुए विषम बन जाती हैं। उस समय खाया हुआ अमृत भी जहर बन जाता है। प० लालन ने आचार्यश्री से कहा—"साधुओ के बीमार होने का एक कारण उनकी गोचरी है। गोचरी से आते ही जो आहार करते हैं, वे बीमारी को निमत्रण देते हैं। कठोर परिश्रम के बाद तत्काल खाने और पीने से रोग पैदा हो जाते हैं। धातुओ को सम करने के लिए दस-पन्द्रह मिनट तक विश्राम करना चाहिए।" मन की उच्चावच अवस्था मे भी नही खाना चाहिए। क्रोध, काम-वासना, लोभ आदि मानसिक भावो मे किया गया भोजन विष-रूप मे बदल जाता है। विषमता आध्यात्मिक दोष ही नही है किन्तु शारीरिक और मानसिक दोष भी है। समता आध्यात्मिक गुण ही नहीं अपितु शारीरिक और मानसिक गुण भी है। प्राण और अपान की विषमता यानी शरीर और मन की अस्वस्थता। प्राण और अपान की समता यानी शरीर और मन की स्वस्थता।

मन-शुद्धि

मन क्या है ? जो चेतना बाहर जाती है, उसका प्रवाहात्मक अस्तित्व ही मन है। शरीर का अस्तित्व जैसे निरन्तर है वैसे भाषा और मन का अस्तित्व निरन्तर नही है, किन्तु प्रवाहात्मक है। 'भाष्यमाणा' भाषा होती है। भाषण से पहले भी भाषा नही होती और भाषण के बाद भी भाषा नही होती। भाषा केवल भाषण-काल मे होती है—'भासिज्जमाणी भासा'। इसी प्रकार 'मन्यमान' मन होता है। मनन से पहले भी मन नही होता और मनन के बाद भी मन नही होता। मन केवल मनन-काल मे होता है—'मणिज्जमाणे मणे'। मन एक क्षण मे एक होता है—'एगे मण नसि नसि समयंसि'। मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है। इन्द्रियों के साथ

आदि पाच विषय हैं। इन विषयो मे सारी वस्तुए समाविष्ट हैं। इन्द्रियो के द्वारा हम हर वस्तु को और उसके स्थूल रूपो को पकडते हैं। शीत और उष्ण के स्पर्श से वस्तु का ज्ञान होता है। आम के रस के स्वाद से हम आम को पहचान लेते हैं। रस ही आम नही है। उसमे रूप भी है, पर हम इसके द्वारा उसको पहचान लेते हैं। गध के द्वारा भी वाह्य-जगत् से हमारा सम्पर्क होता है। रूप और सस्थान भी सम्पर्क के माध्यम हैं। शब्द के माध्यम से भी हमारा वाह्य-जगत् से सम्वन्ध जुडता है। मन का वाह्य से सीधा सम्पर्क नही होता। वह इन्द्रियो के माध्यम से होता है।

बुद्धि और मन मे भेद क्या है ? बुद्धि और मन एक ही चेतना के तारतम्य रूप हैं। सूर्य एक है, पर उसका प्रकाश खण्ड-खण्ड होकर खिडकी आदि अनेक द्वारो से आता है। उससे अनेक द्वारो के अनेक रूप वन जाते है। वर्षा का एक ही जल तालाव, गड्ढे और समुद्र मे जाकर भिन्न-भिन्न रूप ले लेता है। जयाचार्य ने लिखा है—एक चौकी रेत मे दव गई। कहीं से खोदा तो उसका एक कोना दिखाई दिया। दूसरी ओर खोदने से दूसरा कोना दिखाई दिया। चार कोने चार वस्तुए बन गईं। पूरी खुदाई से वह एक अखण्ड चौकी हो गई। वैसे ही हमारी चेतना का जितना आवरण हटता है, वहा उसका रूप भिन्न-भिन्न हो जाता है। बुद्धि, इन्द्रिय और मन एक ही चेतना के तारतम्य रूप हैं।

वास्तव मे साम्यावस्था ही मन शुद्धि है। **सामायिक** का भी यही अर्थ है। साधु जीवन एक प्रकार से **सामायिक** ही है पर उसमे भी साम्य की विशेष साधना की अपेक्षा है। इसलिए उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा—**'अनुत्तर साम्यमुपैति योगी'**।—योगी जन विशेष साम्य का अनुभव करते हैं।

विषमता के अनेक हेतु हैं—सम्मान, अपमान, आज्ञा, अनुशासन आदि। जव तक ये मानदण्ड रहते हैं तब तक पुत्र यदि पिता की आज्ञा नही मानता है तो पिता को गुस्सा आ जाता है, क्योकि यह उसके सम्मान को ठेस है। पत्नी यदि पति की अवज्ञा कर देती है तो पति की शान्ति भग हो जाती है। इसलिए जव तक ये मानदण्ड नही वदलते तव तक मानसिक [illegible] नही रह सकती।

सृष्टि का स्वरूप ही द्वन्द्वात्मक है। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, जीवन-मृत्यु आदि विरोधी युगल हमारे सामने हैं। इसीलिए योग को इनमे सम रहने का उपदेश किया गया है। लाभ मे हर्ष और अलाभ मे खेद विषमता का प्रतीक है। समता आत्मानन्द है। पर इसका यह अर्थ नही कि समता से मनुष्य प्रवृत्ति-शून्य हो जाता है। समता तो पुरुषार्थ की प्रतीक है। बाह्य-निवृत्ति का अर्थ है—अन्त -प्रवृत्ति। क्योकि जो भी अस्तित्व-धर्मा पदार्थ है, उसमे क्रियाकारित्व अवश्य है। न्यायशास्त्र की भाषा मे सत् की परिभाषा है—'अर्थ क्रियाकारित्व हि सत्'। अत बिना क्रिया के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। जैन-दर्शन मे पदार्थ को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना गया है। उत्पत्ति, विनाश और ध्रुवता उसके अवश्यभावी गुण हैं। अत अर्थ-क्रिया के बिना पदार्थ रह ही नहीं सकता। जिसमे ये तीनो नही हैं, वह अपदार्थ है, जैसे आकाश-कुसुम। अत आत्मा यदि अस्तित्वधर्मा पदार्थ है तो वह क्रिया-शून्य हो ही नही सकता।

वास्तव मे धर्म स्वीकृत नही अपितु आत्मा का सहज गुण है, यह उद्भूत है। जो इस स्वरूप को समझ लेता है, वह तीनो ही लोक का स्वामी बन जाता है।

सामान्यत हम लोग समझते हैं कि मन चचल है। उसमें विक्षेप होता है। उसमे अशुद्धि भर जाती है। पर विक्षेप वहा होता है, जहा इन्द्रिय, मन और पवन की विषमता होती है। इनकी समता होने पर विक्षेप अपने आप समाप्त हो जाता है। समता की स्थापना का माध्यम है समताल श्वास। जितनी मात्रा मे एक श्वास लिया, उतनी मात्रा मे दूसरी, तीसरा श्वास लिया। यह समताल श्वास है। समस्वर और समलय में तन्मयता के साथ शक्ति भी विकसित होती है।

मन शुद्धि का एक प्रकार नाडी-संस्थान के दर्शन का भी है। बैठकर दाहिने पैर के अंगूठे पर ध्यान केन्द्रित करने से मन शान्त हो जाता है। वस्तुतः स्नायविक रचना बड़ी दुर्गम है। जो व्यक्ति उसे पहचान लेता है, वह बहुत बड़े-बड़े काम कर सकता है। मैं कुछ ऐसे व्यक्तियों को भी जानता

हू, जिनके पास कोई विशेषज्ञता नही है पर उन्हे कोई स्नायु-रहस्य प्राप्त हो गया और वे मामूली झटके से ही मयकर पेट-दर्द आदि रोगो की चिकित्सा कर देते हैं।

आकाश-दर्शन से भी ध्यान केन्द्रित होने मे सहयोग मिलता है। क्योंकि आकाश अनन्त है। अनन्त का दर्शन स्वभावत ही हमे अपनी आत्म-अनन्तता का बोध कराता है और हम अपने आप मे खो जाते हैं। इसीलिए कई योगी केवल आकाश-दर्शन की पद्धति से भी ध्यान करते हैं।

मन शुद्धि के साथ दृढता से एक विचार पर ध्यान केन्द्रित करने से हम विचार-सप्रेषण भी कर सकते हैं।

५ : स्नायविक तनाव का विसर्जन

स्नायविक तनाव के विसर्जन को ही दूसरे शब्दो मे शिथिलीकरण कहा जा सकता है। उसकी आवश्यकता तब होती है जबकि शरीर मे तनाव हो। इसलिए शिथिल होने के लिए यह समझना आवश्यक है कि तनाव क्या है तथा वह क्यो पैदा होता है ?

आजकल तनाव शब्द बहुप्रचलित हो गया है। क्योकि उद्योगीकरण जितना बढ रहा है, उससे मानसिक तनाव भी उतने ही बढ रहे हैं। पिछले चातुर्मास मे जापान के सहायक राजदूत आचार्यश्री के पास आए थे। आचार्यश्री ने उनसे प्रश्न किया, 'क्या आप भी कभी शिथिलीकरण—कायोत्सर्ग करते हैं ?' उन्होंने बताया, 'हमारे देश मे तो कायोत्सर्ग बहुत प्रचलित है।' इसी प्रकार अमेरिका तथा जर्मनी के विशेषज्ञो ने भी बताया कि कायोत्सर्ग के बिना हमारे देश मे तो जीना भी बहुत कठिन है। बल्कि जापान मे तो विश्वविद्यालय से निकलने वाले अधिकाश विद्यार्थियो को छह महीने के लिए एकान्त मे इसका प्रशिक्षण लेना आवश्यक होता है। उसके बाद ही वे कर्मक्षेत्र मे उतरते हैं। यही कारण है कि वहा के लोग बहुत परिश्रमी होते हैं। उन्होने बताया कि भारतीय लोग बोलते अधिक हैं तथा काम कम करते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि यहा के लोग कायोत्सर्ग नही करते। इसीलिए इनमे अनुशासन का भाव भी कम होता है।

यह सच है कि श्रम से तनाव बढता है। यह भी सच है कि शारीरिक

हू, जिनके पास कोई विशेषज्ञता नही है पर उन्हे कोई स्नायु-रहस्य प्राप्त हो गया और वे मामूली झटके से ही भयकर पेट-दर्द आदि रोगो की चिकित्सा कर देते हैं।

आकाश-दर्शन से भी ध्यान केन्द्रित होने मे सहयोग मिलता है। क्योकि आकाश अनन्त है। अनन्त का दर्शन स्वभावत ही हमे अपनी आत्म-अनन्तता का बोध कराता है और हम अपने आप मे खो जाते हैं। इसीलिए कई योगी केवल आकाश-दर्शन की पद्धति से भी ध्यान करते हैं।

मन शुद्धि के साथ दृढता से एक विचार पर ध्यान केन्द्रित करने से हम विचार-सप्रेषण भी कर सकते हैं।

५ : स्नायविक तनाव का विसर्जन

स्नायविक तनाव के विसर्जन को ही दूसरे शब्दो मे शिथिलीकरण कहा जा सकता है। उसकी आवश्यकता तब होती है जबकि शरीर मे तनाव हो। इसलिए शिथिल होने के लिए यह समझना आवश्यक है कि तनाव क्या है तथा वह क्यो पैदा होता है ?

आजकल तनाव शब्द बहुप्रचलित हो गया है। क्योकि उद्योगीकरण जितना बढ रहा है, उससे मानसिक तनाव भी उतने ही बढ रहे हैं। पिछले चातुर्मास मे जापान के सहायक राजदूत आचार्यश्री के पास आए थे। आचार्यश्री ने उनसे प्रश्न किया, 'क्या आप भी कभी शिथिलीकरण—कायोत्सर्ग करते हैं ?' उन्होंने बताया, 'हमारे देश मे तो कायोत्सर्ग बहुत प्रचलित है।' इसी प्रकार अमेरिका तथा जर्मनी के विशेषज्ञो ने भी बताया कि कायोत्सर्ग के बिना हमारे देश मे तो जीना भी बहुत कठिन है। बल्कि जापान मे तो विश्वविद्यालय से निकलने वाले अधिकाश विद्यार्थियो को छह महीने के लिए एकान्त मे इसका प्रशिक्षण लेना आवश्यक होता है। उसके बाद ही वे कर्मक्षेत्र मे उतरते हैं। यही कारण है कि वहा के लोग बहुत परिश्रमी होते हैं। उन्होंने बताया कि भारतीय लोग बोलते अधिक है तथा काम कम करते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि यहा के लोग कायोत्सर्ग नही करते। इसीलिए इनमे अनुशासन का भाव भी कम होता है।

यह सच है कि श्रम से तनाव बढता है। यह भी सच है कि शारीरिक

मानसिक तनाव के और भी अनेक कारण है। पर उनके प्रतिकार का जो साधन है, वही साधना है। कायोत्सर्ग इसका प्रमुख साधन है। मन को सरल वनाए विना मानसिक उलझन कभी नही मिट सकती। अत मन को सवल वनाना स्नायविक तनाव से मुक्ति पाने का प्रथम सोपान है। इसे ही दूसरे शव्दो मे ग्रन्थिमोक्ष कहा जा सकता है।

कायोत्सर्ग की तीन प्रक्रियाए हैं—सोकर, वैठकर तथा खडे होकर। तीनो मे सोकर करने वाली प्रक्रिया सवसे सुगम है। इसमे पहले-पहल आखें मूदकर सीधा लेटना होता है। उसके वाद हाथो को ऊपर कर यथाशक्ति सास भरकर सारे शरीर मे खूव तनाव पैदा करना होता है। फिर सास को धीरे-धीरे छोडते हुए सहज स्थिति मे आना होता है। यह क्रम तीन वार होता है। इससे रक्त-सचार की वाधा समाप्त हो जाती है और कार्वन वाहर निकल आता है। तदनन्तर धीरे-धीरे सास को वाहर निकालकर हाथ-पैरो को सुविधानुसार फैलाकर शरीर को शिथिल कर दिया जाता है। इस अवस्था में सास बिलकुल धीमा और सहज हो जाता है। यही पहली क्रिया है।

उसके वाद मानसिक क्रिया प्रारम्भ होती है। आखें मूदकर दृष्टि को सबसे पहले सिर पर, फिर क्रमश आख, नाक, कण्ठ, हाथ, छाती, पेट, जाघ, उरु, पैर तथा अगुलियो पर केन्द्रित करना होता है। प्रत्येक पर ध्यान केन्द्रित होते समय यह चिन्तन चलाते रहना है कि मेरा वह अवयव अवश्य शिथिल हो रहा है। पैर की अगुलियो पर ध्यान केन्द्रित करते समय यह चिन्तन रहता है कि मेरा तनाव इस मार्ग से, अगुलियो से, वाहर निकल रहा है। यह दूसरी क्रिया है।

इसके वाद मासपेशियो को शिथिल करने का क्रम चलता है। नीचे से लेकर ऊपर तक दृष्टि को मासपेशियो पर केन्द्रित कर उन्हें क्रमश शिथिल होने की सूचना दी जाती है। यह तीसरी क्रिया है।

चौथी क्रिया ममत्व-विसर्जन की है। जब तक शरीर के प्रति जरा भी ममत्व रहता है, मन मे कोई उलझन रहती है, तब तक कायोत्सर्ग पूर्णत

नही सध पाता। जब व्यक्ति अपने आपको भूल जाए तब उसे समझ लेना चाहिए कि उसका कायोत्सर्ग सध रहा है।

जैनेन्द्र—मनुष्य को जब तक 'मैं हूं'—'अहम्-अस्मि' का अनुभव होता रहता है, तब तक वह लीन नही हो सकता। अत 'वह है' के चिन्तन मे ही अहम् से मुक्ति मिल सकती है। 'वह' अखण्ड तत्त्व का प्रतीक बनता है, 'मैं' खण्डित बोध का। इसीलिए जिस प्रक्रिया मे अह का विसर्जन होता है वही कायोत्सर्ग है। कुछ भक्त भजन मे इतने लीन हो जाते हैं कि अपने आपको भूल जाते हैं। इस अवस्था मे वे जो कहें, वह इतना संवेदनपूर्ण हो जाता है कि उसका प्रभाव अचूक होता है। विचार-सप्रेषण इसी तन्मयता की उपलब्धि है। जब 'मैं' 'वह' मे लीन हो जाता है तो उस एकाग्रता मे विचार अपने आप अतिक्रान्त होने लग जाते हैं। इसमे देश की दूरी भी व्यवधान नही बन सकती।

मुनिश्री—इसे **लययोग** कहा जाता है। योग के अनेक प्रकार हैं—**जपयोग, लययोग, ध्यानयोग** आदि। पर सब योगो की अन्तिम शर्त है आत्मा, इन्द्रिय तथा मन की एकलयता। शिष्य का अर्थ ही यही है कि वह गुरु मे अपने आपको लीन कर दे। यदि शिष्य गुरु मे लीन नही होता है तो उसे बौद्धिक उपलब्धि भले ही हो जाए पर उससे परे जो आत्मोपलब्धि है वह नहीं हो सकती। प्राचीन आचार्य शिष्यो को पढाते बहुत थोडा थे और अपना काम ज्यादा करवाते थे। वस्तुत जो शिष्य गुरु मे लीन हो जाता, वह दिनभर गुरु की सेवा मे तन्मय रहता था। जब कभी गुरु उसे थोडा-बहुत ज्ञान दे देते उससे उसकी आत्मा जागृत हो जाती थी। आत्मजागृति के सामने बौद्धिक उपलब्धि अत्यन्त तुच्छ वस्तु है। वास्तव मे जो दूसरो मे अपने आपको लीन नहीं कर देता वह सदा अपने आप मे उद्विग्न और चिन्तित रहता है।

इस सारे चिन्तन से हम एक ऐसे स्थल पर पहुंचते है, जहा शरीर और आत्मा भिन्न नही रह पाते। मेरे विचार से आध्यात्मिक प्रक्रियाओ द्वारा शरीर को स्वस्थ करने की एक बहुत ही समर्थ विधि विकसित की जा

सकती है। साधना-केन्द्र मे यदि इस आध्यात्मिक चिकित्सा का प्रयोग किया जा सके तो सचमुच यह एक सर्वथा नवीन पद्धति होगी। मानसिक चिकित्सा से भी यह विधि अधिक सार्थक सिद्ध हो सकती है। प्राकृतिक चिकित्सा पर तो आज काफी बल आ ही रहा है, पर अमेरिका मे आजकल कुछ ऐसे भी चिकित्सक है जो केवल श्वास-प्रक्रिया से रोगो को ठीक कर देते हैं।

६ : ग्रन्थि-मोक्ष

हम ग्रन्थि से अपरिचित नही हैं। रस्सी मे, पेड मे, शरीर मे हमे गाठें देखने को मिलती हैं। जैसे बाह्य द्रव्यो मे गाठें घुलती हैं, वैसे ही मन मे भी घुलती है। बाह्य ग्रन्थियो की अपेक्षा मानसिक ग्रन्थिया अधिक जटिल होती हैं। मानसिक ग्रन्थियो के कारण हैं

१ मिथ्यादर्शन,

२ मानसिक आकांक्षा,

३ कुटिलता।

मिथ्यादर्शन यह ग्रन्थिपात का प्रमुख कारण है। हमारी मान्यताए जितनी विपर्यस्त होती हैं उतनी ही मानसिक ग्रन्थिया पडती हैं। उनसे हम यथार्थ को छोड अयथार्थ को स्वीकार कर लेते है। कही हम सदिग्ध हो जाते हैं और कही विपर्यस्त। एक के प्रति सन्देह होने से उसके प्रति अनायास विरोध के भाव जगते हैं और उसे हम शत्रु मान बैठते हैं। सम्राट् श्रेणिक की रानी चिल्लणा सो रही थी। हाथ बाहर रह गया था। सर्दी से रानी का हाथ ठिठुर गया। जब वह जगी तो उसके मुह से निकला, 'वह क्या करता होगा!' राजा ने इस वाक्य को सुना। उसने निर्णय लिया, रानी का आचरण अच्छा नही है, यह किसी से प्रभावित है। प्रात काल होते ही राजा ने अभयकुमार को आदेश दिया कि 'महल जला डालो।' महल को जलाने के पीछे राजा का सन्देह था। रानी के मुह से अनायास

ही मुनि की स्थिति फूट पडी, जो खुले मे ध्यान कर रहा था और जिसे कल ही रानी ने देखा था।

ऐसा कौन है, जो सन्देह के कारण ऐसा नही करता। स्थल मे चाकचिक्य के कारण जल की कल्पना कर मृग दौडता है, वैसे हम विपर्यस्त दृष्टिकोण से चलते हैं। अशाश्वत को शाश्वत, आत्म को अनात्म और दु ख को सुख मान लेते हैं। आज का धनी-वर्ग और शासक-वर्ग इसी आधार पर चल रहा है। क्या सत्ता का जो प्रयोग हो रहा है, वह वाछनीय है ? क्या इतना धन सग्रह करना वाछनीय है ? यह सब विपरीत दृष्टिकोण के कारण हो रहा है।

मानसिक आकाक्षा हरेक को जीवन की प्राथमिक आवश्यकता पूरी करनी होती है पर आकाक्षा उससे आगे चलती है। दूध पीने पर रसानुभूति होती है। जब वह आकाक्षा मे वदल जाती है, तव वह अनुबन्ध बन जाती है। एक दिन दूध पीने से वासना नही होती। जो प्रतिदिन दूध पीता है, वह यदि एक दिन नही पीता तो उसे कमी का अनुभव होता है। वह कोरी आवश्यकता ही नही है, उससे अतिरिक्त भी है, वह है—आकाक्षा। प्रतिदिन का अभ्यास इतना पुष्ट वन जाता है कि आवश्यकता आकाक्षा का रूप ले लेती है।

कोई भी शरीरधारी अपेक्षा से मुक्त नही है पर उसमे तरतमता होती है। जल की लकीर, बालू की लकीर, मिट्टी की लकीर और पत्थर की लकीर मे जैसे तरतमता है वैसे ही अपेक्षा मे तरतमता होती है। जो अपेक्षा जल की लकीर की तरह होती है, वह आवश्यकता-भर है। जो बालू की लकीर के समान है, वह थोडी-सी अतृप्ति है। जो मिट्टी की लकीर के समान है, उसमे आकाक्षा की मात्रा वढ जाती है। जो पत्थर की लकीर के समान है, उसमे आवश्यकता गौण हो जाती है और वह आकाक्षा अनन्तानुवधी वन जाती है। अतृप्ति को तृप्त करने के प्रयत्न से तृप्ति नही होती परन्तु अतृप्ति वढ जाती है, एक के बाद दूसरी अतृप्ति उभर आती है। तर्कशास्त्र मे इसे **अनवस्था** कहा जाता है। एक कपडे को साफ रखने

के लिए उस पर खोली चढ़ाते हैं। उसे साफ़ रखने के लिए उस पर दूसरी, दूसरी को साफ रखने के लिए तीसरी, चौथी और पाचवी—इस प्रकार क्रम बढ़ता ही जाता है। अतृप्ति का कही अन्त नही आता। अनवस्था का यही स्वरूप है।

कुटिलता कुटिलता ग्रन्थिपात का पहला चरण है। माया अर्थात् ग्रन्थिपात, आर्जव यानी ग्रन्थि-मोक्ष। ऋजु व्यवहार के पहले-पीछे और वर्तमान मे मानसिक जटिलता नही होती, इसलिए उसमे ग्रन्थिपात का अवसर नही आता। कुटिल व्यवहार मे पहले, पीछे और वर्तमान मे मानसिक जटिलता होती है, इसलिए उस स्थिति मे ग्रन्थिया पड़ती हैं।

ग्रन्थि-मोक्ष की तीन पद्धतिया हैं—(क) आत्मविश्लेषण की पद्धति, (ख) निर्देशन की पद्धति, (ग) निरसन की पद्धति।

आत्म-विश्लेषण की पद्धति मनोवैज्ञानिक है। आत्म-विश्लेषण प्राच्य भाषा मे प्रायश्चित्त है। जो अकृत हो जाता है, उससे मन में द्वन्द्व होता है, उससे मन मे ग्रन्थि घुलती है। आत्म-विश्लेषण या प्रायश्चित्त मे वह खुलती है।

निर्देशन—इसका अर्थ है, स्वत सूचना। यह भारतीय योग की प्रक्रिया है। इससे मानसिक स्वभाव मे परिवर्तन आता है। स्वत सूचना से मानसिक ग्रन्थि टूट जाती है। पूरक (श्वास को भीतर लेते समय) काल मे निष्ठा के साथ निर्देश देने से बहुत बड़ा लाभ होता है। सोते समय निर्देश देना भी शीघ्र फलदायी होता है। इस विधि से दिए गए निर्देश तीन मिनट मे रक्त के साथ सारे शरीर मे व्याप्त हो जाते हैं। श्वास को लम्बाना आवश्यक है। निर्देश से दुरभिसन्धि भी मिट जाती है।

निरसन—यह निर्जरण की प्रक्रिया है। निर्देशन ग्रन्थि को खोलना है और निरसन तोड़ता है। निरसन मे चैतन्य इतना प्रबल हो जाता है कि मानसिक [illegible] टिक नहीं सकती, ग्रन्थि टूट जाती है। इसमें सत्य के प्रति आग्रह होता है। बुद्ध ने इसी आग्रह की भाषा मे कहा था—

'इहासने शुष्यतु मे शरीर, त्वगस्थिमास प्रलय च यातु।
अप्राप्य बोधि बहुकालदुलभा, नैवासनात्कायमिद चलिष्यति ॥'

सत्य के प्रति आग्रह होने पर ग्रन्थि-छेद हुए विना नही रहता। जितने महापुरुष हुए हैं, उन सबने सत्य के प्रति आग्रह का व्रत लिया था। आग्रह इतना दृढ किया कि कार्य-सिद्धि या शरीर का पात। ऐसे दृढ आग्रह से ग्रन्थि-छेद सरलता से हो सकता है। निरसन की पद्धति ही तपस्या की पद्धति है। यह पद्धति निषेध, अस्वीकार या आत्मोन्मुक्ता की पद्धति है। इससे आत्मविमुखता मिट जाती है। **आत्म-विश्लेषण ग्रन्थि को सुलझाता है, निर्देशन ग्रन्थि को खोलता है और निरसन ग्रन्थि को तोड़ता है।**

ग्रन्थि मोक्ष का परिणाम सरलता—जीवन की सहजता है। वक्रता और सरलता जीवन के दो पक्ष हैं। जितना टेढापन है, वह जीवन मे समस्याए उभारता है। वास्तविक समस्याए हमारे जीवन मे वहुत नही हैं, उनका ताना-वाना मनुष्य स्वय बुनता है। कुछ लोग सोचते हैं, ऐसा युग आ गया, ऐसा शासन आ गया जो समस्याए बढ रही हैं। समस्याए वाह्य वृत्त मे हो सकती है पर उनसे आपको कष्ट नही होता। आपको कष्ट तभी होता है, जब आप उनको अपने मन मे सजोते हैं। मन का दरवाजा टूटा हुआ होता है, हर कोई भीतर घुस सकता है। यदि वह मजवूत हो तो वाहर का कोई असर नही होता। खिडकी वन्द करने से वाहर की शीत-लहर भीतर प्रवेश नही कर पाती, क्योकि निरोध मजबूत है। यही स्थिति परिस्थिति की है। यदि मानसिक चचलता होती है तो वह बाहर की परिस्थिति को तत्काल पकड लेती है। एक व्यक्ति प्रतिकूल वात सुनकर टाल देता है। दूसरा उसे बुरा मानकर कुछ करता है और तीसरा उसे अन्याय मान तत्काल प्रतिकार की वात सोचता है। उसके लिए भयकर घटना वन जाती है। घटना समान होने पर भी अनुभूति की भिन्नता है। जिसका मन जितना तरल है, वह उतना ही वाह्य परिस्थिति से प्रभावित होगा। मन की शान्ति नितान्त घटना से नही, मानसिक चचलता से भग होती है। मानसिक शान्ति के लिए घटना और घटनाजनित परिणाम का विश्लेषण होना आवश्यक है।

जैनेन्द्र—शान्ति श्मशान की शान्ति नही होनी चाहिए। जड शान्ति मे चैतन्य कुण्ठित हो जाता है।

मुनिश्री—मैं परिस्थिति से आख-मिचौनी करने वाली कृत्रिम शान्ति की बात नही कर रहा हू। अन्याय के प्रतिकार को मैं शान्ति-भग नही कह रहा हू। मैं उस शान्ति की बात कह रहा हू, जिसमे प्रतिकार की शक्ति सुरक्षित है, जिसे प्रतिगामी चुनौती नही दे सकता, प्रतिकार की क्षमता मे विचलित कर स्वय को आकुल नही बना सकता। मन की स्थिति सुदृढ होने पर वह अग्राह्य को छोड देता है, जैसे चलनी आटा छानती है, उसमे अग्राह्य अश शेष रह जाता है। कुटिलता व्यक्त होने पर ऋजुता शेष रहती है। ग्रन्थि-मोक्ष अपने आप हो जाता है।

७ : संकल्प-शक्ति का विकास

हमारे शरीर मे दो केन्द्र हैं—**ज्ञान-केन्द्र** और **क्रिया-केन्द्र**। दो नाडी-क्रम हैं—**ज्ञानवाही नाडी-क्रम** और **क्रियावाही नाडी-क्रम**। ज्ञानवाही नाडियो का सम्बन्ध ज्ञान-केन्द्र से है और क्रियावाही नाडियो का सम्बन्ध क्रियाकेन्द्र से। मनोविज्ञान के अनुसार मानस की प्रवृत्तियो के तीन पक्ष हैं—ज्ञानपक्ष, वेदनापक्ष और क्रियापक्ष । ज्ञान और क्रिया मे कोई दूरी नही होती, यदि मनुष्य वेदनाशील नही होता । पेट ठीक न होने से विवेक कहता है, आज दूध नही मट्ठा लेना चाहिए। यह विवेककृत मोड या परिवर्तन है। विवेक की अपेक्षा आस्था का स्थान पहला है। सकल्प का कार्य है—ज्ञान को आस्था मे वदलना।

सकल्प, जप और **भावना**—ये तीन शब्द हैं। पतजलि ने जप शब्द का प्रयोग किया। जैन-साहित्य मे भावना शब्द है और आधुनिक साहित्य मे सकल्प शब्द अधिक व्यवहृत है। तीनो शब्दो के तात्पर्य मे कोई अन्तर नही है। **जप** का अर्थ है—तदर्थभावित होना । जप्य से इतना भावित हो जाना कि जप्य और जापक मे भेद ही प्रतीत न हो।

आयुर्वेद मे लवणभास्कर को नीबू से भावित किया जाता है। आमलकी रसायन स्वरस भावित होता है, आवलो के रस मे आवलो की घुटाई होती है। द्रव्य मे अन्तर नही होने पर भावना से गुणो मे अन्तर आजाता है। जिन द्रव्यो को जिससे भावित किया जाता है, उसकी ही प्रधानता हो जाती है।

पाच पुटी अभ्रक और एक हज़ार पुटी अभ्रक के गुणो मे वहुत वडा अन्तर हो जाता है। कई सकल्प करते हैं पर घुटाई नही करते। दो-चार वार सकल्प दोहराने से उतना फल नही मिलता जितना चाहते है। घुटाई करने मे समय लगता है। जितना समय लगेगा, उतनी ही वस्तु भावित होगी। जिससे भावित करेंगे, उसमे उसके ही गुण प्रधान रहेगे। नीवू की भावना मे नीवू का और अनार के रस की भावना मे अनार का गुण प्रमुख रूप से रहेगा।

यही हमारे मन की प्रक्रिया है। मन को भी जिस भावना से भावित किया जाएगा, उसमे वैसा ही स्थायीभाव वन जाएगा। आस्था भिन्न-भिन्न होने का यही कारण है। आस्था के निर्माण मे सकल्प का योग महत्त्वपूर्ण है।

मत्र-शास्त्र की प्रक्रिया मे सकल्प-शक्ति का वहुत वडा योग है। सकल्प के लिए सात शुद्धियो की अपेक्षा है

१ द्रव्यशुद्धि—व्यक्ति का अतरग क्रोध, दभ, ईर्ष्या से मुक्त, ऋजु और सरल होना चाहिए।

२ क्षेत्रशुद्धि—स्थान शान्त और पवित्र होना चाहिए।

३ समयशुद्धि—तीन सध्या—प्रात, मध्याह्न, साय।

४ आसनशुद्धि—ध्यानासनो मे, कवल, काष्ठपट्ट या जमीन पर।

५ विनयशुद्धि—उच्चारण मे उपयुक्त स्थल पर विराम।

६ मन शुद्धि।

७ वचनशुद्धि।

सकल्प के तीन प्रकार है—वाचिक, उपाशु और मानसिक।

वाचिक—जो उच्चारणपूर्वक किया जाता है।

उपांशु—बाहर भाषा नही, किन्तु होठो के भीतर शब्द होते है।

मानसिक—होठो के भीतर भी उच्चारण नही, केवल मानसिक चिन्तन।

जप उनका करना चाहिए जो हमारे आदर्श है। इनसे आस्था का

निर्माण होता है। वीतराग (पवित्र आत्मा) के जप से मन उसी भावना से रग जाता है। हर शब्द की शरीर पर क्रिया होती है। भिन्न-भिन्न शब्द का भिन्न-भिन्न रोगो पर असर पडता है। इसी आधार पर शब्द-चिकित्सा चली। शब्द वायुमण्डल मे प्रकम्पन पैदा करता है और स्फोट भी करता है। वह अणु-स्फोट से कम प्रभावी नही है।

सकल्प विधायक होना चाहिए। **'मैं क्रोध नही करूगा'**, इसके स्थान पर **'मेरा प्रेम बढ रहा है'**—ऐसा सकल्प होना चाहिए। ऋणात्मक की अपेणा धनात्मक अधिक फल लाता है। सकल्प की विधेयात्मकता मे नकारात्मकता स्वय लीन हो जाती है।

भगवती सूत्र का एक प्रसग है। भगवान् महावीर से पूछा गया—'भगवन् ! अग्निपक्व अन्न वनस्पतिकाय है या तैजसकाय ?' उत्तर मिला—'तैजसकाय।' वह तेजस् से भावित हो गया, इसलिए जो अन्न वनस्पति था वह तैजस हो गया। यह तादात्म्य है। इसमे पूर्वावस्था उत्तरावस्था मे विलीन हो जाती है।

सकल्प लम्बे समय तक किया जाए, यह उसकी सफलता का रहस्य है। लीनता या तादात्म्य-स्थापना के लिए अल्प-काल पर्याप्त नही होता। मैं पवित्र हू, इस सकल्प को कम-से-कम पचास मिनट तक किया जाए और इतनी तन्मयता से किया जाए कि उसमे ध्याता और ध्येय का भेद ही न रहे। ऐसी तन्मयता ही फल लाती है। इसे जैनाचार्य 'समरसीभाव' और पतजलि 'समापत्ति' कहते हैं। सकल्प का हृदय शब्दोच्चारण मे नही है, किन्तु सकल्प और सकल्पकार की एकात्मकता मे है।

जैनेन्द्र—प्रात कालीन प्रार्थना के समय जो सकल्प करा रहे हैं, उससे मुझे खतरा दिखाई देता है।

मुनिश्री—खतरा क्या है ?

जैनेन्द्र—मैं ऐसा मानता हू कि अह से मुक्त हुए बिना बधन नही कटता।

मुनिश्री—अह को आप बधन ही क्यो मानते है ? वह अस्तित्व भी

तो है।

जैनेन्द्र—मैं अस्मितासूचक अहं की बात कह रहा हूं। मुझे 'मैं आत्मा हूं', इसकी अपेक्षा 'आत्मा है' की भाषा अधिक प्रिय है।

मुनिश्री—'मैं आत्मा हूं' इस संकल्प में अस्मिता प्रधान है, अस्मिता नहीं।

अहं या आत्मा में तन्मयता प्राप्त करने पर व्यक्ति शरीर से विच्छिन्न हो आत्ममय बन जाता है।

८ : मानसिक एकाग्रता

व्यक्तिगत साधन के आठ सूत्रो मे मानसिक एकाग्रता या ध्यान को आठवा सूत्र क्यो चुना ? यह तो पहला होना चाहिए था। यह प्रश्न पैदा होता है और बहुत स्वाभाविक। किन्तु इसके प्रति मेरा दृष्टिकोण यह है—पिछले सात सूत्र प्रारम्भिक हैं, ध्यान की भूमिका के रूप मे है। यदि वे सध जाते हैं तो ध्यान को साधना सहज हो जाता है। प्रारम्भ मे मन की चचलता का निरोध कठिन होता है।

एकाग्रता होने मे तीन वाधाए हैं—**स्मृति, कल्पना** और **वर्तमान की घटना**।

स्मृति अतीत की घटनाए जो घट चुकी हैं, वे निमित्त पाकर उभर आती हैं। बीस वर्ष पहले किसी गाव मे गए थे। उस क्षेत्र को देखते ही वहा की स्मृतिया ताजी बन जाती है, यह **दैशिक-स्मृति** है। ग्रीष्म-ऋतु आते ही पहले ग्रीष्म की घटनाए उभर आती हैं, यह **कालिक-स्मृति** है। बाह्य वृत्त और व्यक्ति का सधान होते ही स्मृति जाग उठती है और उसमे मन उलझ जाता है।

कल्पना स्मृति अतीत की बाधा है तो कल्पना भविष्य की बाधा है। क्या करना है, क्या लिखना है, कहा से रुपये लाना है आदि अनेक कल्पनाए मन सजोता रहता है। कल्पना वर्तमान मे सत्य नही होती। अतीत की स्मृति मन को आन्दोलित करती है, वैसे ही भविष्य की कल्पना

भी मन को आन्दोलित करती है।

वर्तमान की घटना वर्तमान की घटना भी मन को आन्दोलित करती है। मन तत्काल बाह्य वस्तुओ से सम्बन्ध स्थापित कर आन्दोलित हो जाता है। हम चाहते है, हमारा मन आन्दोलित न हो या उतना न हो जितना होता है तो उसके लिए तीनो बाधाओ से मुक्ति पाना अपेक्षित है। उसका मार्ग ध्यान है। तीनो से विच्छिन्नता प्राप्त कर चैतन्य सूत्र को चैतन्य से जोड देना यही बस ध्यान है। ध्यान की पुरानी परिभाषा है

ज्ञानान्तराऽस्पर्शवती ज्ञानसन्तति ध्यानम्

चैतन्य का वह प्रवाह ध्यान है जो ज्ञानान्तर का स्पर्श न करे। इसमे निरन्तर स्व-द्रव्य का स्पर्श और पर-द्रव्य का अस्पर्श होता है, इसलिए इसे ज्ञान-सन्तति कहा जा सकता है।

अपने मे लीन होना ध्यान है। आत्मा 'स्व' है और शेष सब 'पर' है। 'पर' मे निवृत्त हो शुद्ध आत्मा का चिन्तन लेकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना आत्मज्ञान है। और पहले क्षण का ज्ञान है, वही दूसरे-तीसरे क्षण मे होता है, क्रम-भग नही होता, यही सतति है। जैसे दीपशिखा है, प्रथम क्षण की लौ चली गई, दूसरी और तीसरी आयी, वह भी चली गई। ऐसा उसमे वर्तमान का अतीत के साथ सम्बन्ध होता है। दीपशिखा की भाति चिन्तन-प्रवाह का वैसा होना ही एकाग्रता है।

ध्यान का मुख्य विषय परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है। जो चेतना बहिर्मुखी थी, उसे हटा आत्मा मे लीन करना है।

जैनेन्द्र—ध्याता और ध्येय—यह द्वैत न हो वहा एकत्व कैसे सम्भव है? आत्मा आत्मा मे लीन—यह कैसी स्थिति है?

मुनिश्री—आत्मा का आत्मा मे लीन होना यह स्थिति का द्वैत है। जिसमे लीन होना है, वह शुद्ध अवस्था है। जिसे लीन होना है, वह बहिर्मुखी अवस्था है।

जैनेन्द्र—मुझे ध्यान [illegible] लगता है। इसे स्व-रति के खतरे से

वचना है। थोडा ध्यान जिसमे स्वास्थ्य-लाभ हो, जिसका सेवा मे उपयोग हो, जिसे आत्म-रमण कहते है, वह ठीक है पर **आत्म-रमण** और **स्व-रति** मे भेद है। **आत्म-रमण** वडा शब्द है। **स्व-रति** मनोविज्ञान मे भी चलता है, वह सकुचित है। भक्त और भगवान् दो हैं। भक्त अपनी ही भक्ति मे स्व का द्वैत उत्पन्न करे, फिर एकीकरण करे ?

मुनिश्री—द्वैत और एकीकरण, यह दोनो प्रक्रियाओ मे समान है। एक जगह भगवान् और भक्त का एकीकरण है तो दूसरी जगह आत्मा की दो भिन्न स्थितियो का एकीकरण है। सहारे की अपेक्षा हो तो वह उसमे भी है और इसमे भी।

जैनेन्द्र—जो 'स्व' मे ही निष्ठ हो गया, होते-होते निकम्मा ही नही, विक्षिप्त हो गया। परिस्थिति से सम्वद्ध रह नही सका।

मुनिश्री—यह परिस्थिति की तुलना मे स्व-निष्ठा की वात नही है। स्व-निष्ठा का अर्थ चैतन्य है, प्रवुद्धता है और वह प्रवुद्धता जिसमे चैतन्य ही चैतन्य हो। साधनाकाल मे ध्याता और ध्येय का विभाग रहता है, सिद्धि-काल मे वे दोनो एक हो जाते हैं।

जैनेन्द्र—चैतन्य का स्वभाव सिमटकर सीमित होना नही है। चेतना वाहर से लौटकर भीतर की ओर नही आती, वह वाहर की ओर फैलकर विराट् वन जाती है।

मुनिश्री—चैतन्य का भीतर की ओर लौटने का अर्थ सिमटना नही किन्तु विस्तार ही है। आप क्षेत्रीय विस्तार की भाषा मे कह रहे हैं, मैं शक्ति-विस्तार की भाषा मे कह रहा हू। क्षेत्रीय दृष्टि से तो आकार भी विराट् है। चैतन्य की विराटता उससे विलक्षण है।

जैनेन्द्र—आप कहते हैं, कल्पना को समाप्त कर दो। मैं कहता हू कल्पना को मुक्त कर दो।

मुनिश्री—साधना के कुछ स्तरो मे आपकी भाषा मान्य हो सकती है। साधना का स्तर सवका एक नही होता।

जैनेन्द्र—कल्पना को छोडने मे लगे हुए अधिक विखर गए हैं, यह मैंने

देखा है।

मुनिश्री—उनका आत्मा के साथ ठीक योग नही हुआ है।

जैनेन्द्र—योग शब्द ठीक है। पहले आपने विच्छिन्न कहा। यदि योग है तो यह मैं भी मानता हू।

मुनिश्री—मैंने तो पहले ही कहा था, स्व-द्रव्य के साथ योग और पर-द्रव्य के साथ अयोग। कोरा अयोग या विच्छेद नही कहा था।

मोहन (जैनेन्द्रजी से)—छोडते जाओ, छोडते जाओ, यह तो समझ मे आता है पर विस्तार करते जाओ यह भाषा समझने मे कठिनाई है। इसका व्यावहारिक रूप क्या है?

जैनेन्द्र—आचार्य तुलसी के प्रति आपकी श्रद्धा है। तुलसीजी मे आपका लीन होना सरल है। जैनेन्द्र जैनेन्द्र मे लीन हो जाए, यह कठिन लगता है। अपने से दूसरो मे लीन होना विस्तार है और वह सरल भी है।

मुनिश्री—स्वलीन या परलीन यह भाषा-भेद है। भाषा कोई सत्य नही है। सत्य जहा पहुचना है, वहा पहुचना है।

जैनेन्द्र—आत्मा के नाम पर अह की साधना होने से धर्म अधर्म बन जाता है।

मुनिश्री—अह शब्द एक है पर इसके दो रूप है। अह अस्मित्व का सूचक हो तो वह अधर्म हो सकता है पर अस्तित्व का सूचक हो तो वह अधर्म कैसे होगा?

विषय-विच्छेद की प्रक्रिया

ध्येय के साथ तादात्म्य स्थापित करने की प्रक्रिया प्रत्याहार है। इसके लिए एक मुद्रा है—सर्वेन्द्रियोपरम। इससे मानसिक शान्ति मिलती है। दो-चार मिनट इस मुद्रा मे रहने से घंटे-भर का श्रम मिट जाता है। कितना ही मन बिखरा हो, इस मुद्रा से केन्द्रित हो जाता है।

रस-विच्छेद की प्रक्रिया

ध्यान के चार प्रकार हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत। एकाग्रता मे एक आलम्बन लेना होता है, चाहे वह परमात्मा का हो, आत्मा का हो या किसी वाह्य वस्तु का हो। पिण्डस्थ मे अपने शरीर का आलम्बन ले अभ्यास किया जाता है। शरीर मे नासाग्र आदि सोलह स्थानो पर मन का योग करने से शान्ति मिलती है।

जैनेन्द्र—ध्यान मे प्रवृत्ति-शून्यता या अह की वृद्धि का खतरा है।

मुनिश्री—ध्यान मे सहज आनन्द की अनुभूति होती है। मैं अपने मे देखता हू। ध्यान के लिए कुछ समय लगाता हू, फिर भी मेरी प्रवृत्ति कम नही हुई है और न मुझे अह सताता है, प्रत्युत आनन्द का अनुभव कर रहा हू। इसलिए मुझे लगता है कि ध्यान कोई खतरा नही है। जहा आनन्द नही मिलता, वहा ध्यान की प्रक्रिया मे गलती हो सकती है।

जैनेन्द्र—मेरे जीवन मे कम-से-कम एक दर्जन व्यक्ति आए। दो-दो घटे ध्यान करते थे, फिर भी उनका मन बिखर रहा है।

मुनिश्री—प्रक्रिया मे कही गलती हो सकती है, अन्यथा ध्यान से आनद ही मिलता है, मन बिखरता नही।

राजसमन्द मे **रजनीशजी** आए। ध्यान के विषय मे वात चली। उन्होंने निरालम्व की वात पर बल दिया। मैंने कहा—यह आगे की भूमिका है। प्रारम्भ मे आलम्वन के विना कठिनता आती है। नाभि का आलम्वन मन को एकाग्र करने मे वहुत सहायक वनता है। जहा से श्वास स्पन्दन होता है, उस पर नियत्रण होता है। उससे एकलयता आती है। मन की स्थिरता आती है। भृकुटी, नासाग्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, उपस्थ, पादागुण्ठ—ये चेतना के केन्द्र-स्थान हैं। मन को इन शरीर-केन्द्रो मे केन्द्रित करना पिण्डस्थ ध्यान है। पदस्थ ध्यान मे शब्दो का आलम्बन लिया जाता है। जो शब्द इष्ट हैं—परमात्मा या कोई, उसका आलम्वन लिया जाए। रूपस्थ-ध्यान में अपने से भिन्न किसी मूर्त-वस्तु के साथ सम्बन्ध कर ध्यान करना

होता है। मूर्ति का विकास इसी रूपस्थ ध्यान के सहारे हुआ है। एकलव्य को शस्त्र-कला मे पारगत होना था। उसके लिए सबसे सुन्दर आलम्बन द्रोणाचार्य थे। उनकी मूर्ति को आलम्बन बना वह उस कार्य मे लीन हो गया।

रूपातीत ध्यान परम आत्मा का ध्यान है। इसमे रस-निवृत्ति हो जाती है। यह रस-विच्छेद की प्रक्रिया है। गीता मे बताया है

'विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिन ।
रसवर्जं रसोप्यस्य, पर दृष्ट्वा निवर्तते ॥'

विषय और रस दो हैं। विषय बाहर है, रस भीतर है। जैन-भाषा मे रस का अर्थ विकार है। विषय २३ हैं और विकार २४४ हैं। आखें मूंद लेने से विषय नही मिलता पर रस नही मिटता। यह तभी मिटता है, जब 'पर' का दर्शन हो जाता है। पर यानी परमात्मा। वह रस-वर्ज है, निर्विकार है, लक्ष्य है, जो आप होना चाहते हैं, वह है। उस 'पर' के दर्शन से रस निवृत्त हो जाता है। ध्यान मे विषय की निवृत्ति और रस की निवृत्ति—दोनो हो जाती है।

जैनेन्द्र—क्या मुक्ति अभावात्मक स्थिति है?

मुनिश्री—नहीं, भावात्मक है। वहां ससीम सुख की निवृत्ति होती है तो असीम सुख की उपलब्धि होती है। परमात्मा का आनन्द अनन्त है, अचल है, अक्षर है। यहां के सुख क्षणक्षीण हैं। मनुष्य इतना मूर्ख नहीं, कि सत्ता को छोड़ शून्यता मे जाए। वैशेषिक की अभावात्मक मुक्ति का उपहास करते हुए किसी नैयायिक आचार्य ने लिखा है

'वर वृन्दावने रम्ये, क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम्।
न तु वैशेषिकीं मुक्ति, गौतमो गन्तुमिच्छति ॥'

'वृन्दावन मे सियार होना मान्य है पर वैशेषिक की मुक्ति मे जाना गौतम को मान्य नहीं है।'

मुक्ति भावाभावात्मक स्थिति है—

'अतएवान्यशून्योयि, नात्मा शून्य स्वरूपत ।
शून्याशून्यस्वभावोयमात्मनैवोपलभ्यते ॥'

हम अनन्त ज्ञान चाहते हैं, अनन्त आनन्द चाहते हैं, अनन्त पवित्रता और अनन्त शक्ति चाहते हैं। जहा ये नही, वहा धर्म नही है। हमारे ये चार लक्ष्य हैं। उपलब्धि चाहे कम हो, लक्ष्य यही है। यह चेतना की विकसित अवस्था है, अभावात्मक अवस्था नही है। जिसे हम नही चाहते, वह सान्त अवस्था है। उसकी सत्ता वहा समाप्त हो जाती है, इसलिए वह भावाभावात्मक है।

जैनेन्द्र—कुछ सर्वोदयी नेता जे० के० कृष्णमूर्ति की ओर झुक रहे हैं। एक दिन दादा धर्माधिकारी मुझे भी उनके पास ले गए। वात सुनने मे वे वेहद ठीक हैं। वे निश्चय की भाषा मे वोलते हैं। कहने से आगे उतरती नही। कहते हैं—समय की सत्ता नही पर सात रोज का कार्यक्रम आगे का वधा रहता है।

मुनि सुख—तीर्थंकर और केवली की वीतरागता समान है। तीर्थंकर तीर्थ की रचना करने मे प्रवृत्त होते हैं और केवली नही। तो क्या वीतरागता की परिपूर्णता रचना मे है ?

मुनिश्री—रचना सवेदन मे से प्राप्त होती है पर उसका आकार अपने सामर्थ्य और भूमिका के अनुसार होता है। शरीर का व्यवहार और प्रवृत्ति दोनो के लिए अनिवार्य है। यह अनिवार्यता तव तक चलेगी, जव तक शरीर का अस्तित्व रहता है।

मुनि सुख—पिण्डस्थ, पदस्थ आदि मे क्रमवद्धता है या नही ?

मुनिश्री—क्रमवद्धता के विपय मे कभी सोचा नही, पर चाहे तो उसे ढूढ सकते हैं।

इसी बीच उमरावचन्दजी मेहता वोल उठे—शरीर, वाणी और मन की स्थिरता द्वारा आत्मा तक पहुचना है। रूपातीत आत्मा है। पहले तीनो शरीर, वाणी और मन की स्थिरता के निमित्त हैं।

मुनिश्री—कुछ ग्रंथो मे भिन्न क्रम भी मिलता है पर प्रस्तुत क्रम सार्थक भी है। पिण्ड (शरीर), पद (भाषा) और रूप मे दूसरे की अपेक्षा पहला अधिक निकट है।

सामुदायिक साधना के आठ सूत्र

१ : सत्-व्यवहार

सत् के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ है—सत् अर्थात् सत्ता, अस्तित्व। दूसरा अर्थ है—सत् यानी अच्छा। सत् के ये दो अर्थ प्रचलित हैं। यहा दोनो ही अर्थ गृहीत है। सत्-व्यवहार यानी आत्मीय व्यवहार या सौजन्य-पूर्ण व्यवहार। आत्मीय तो प्रथम है ही। सौजन्यपूर्ण व्यवहार को भी बहुत महत्त्व दिया गया था। आचार्य सोमप्रभ ने लिखा है

वर विभववन्ध्यता सुजनभावभाजा नृणा-
मसाधुचरितार्जिता न पुनरूर्जिता सम्पद।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दर,
विपाकविरसा न तु श्वयथुसभवा स्थूलता।

सौजन्य अच्छा है, भले फिर कुछ भी न मिले। दौर्जन्य से कुछ मिलता है तो वह शोथ-जनित स्थूलता है। उस स्थूलता की अपेक्षा कृशत्व बहुत अच्छा है। वह स्थूलता रोग है और कृशता स्वास्थ्य।

असत्-व्यवहार की कसौटी क्या है जिससे कसकर हम समझ सकें कि यह व्यवहार असत् है और यह सत्। असत्-व्यवहार की तीन कसौटिया हैं—**क्रूरता, कपट और निरपेक्षता।** सद्व्यवहार की तीन कसौटिया हैं—**मृदुता, मैत्री और सापेक्षता।**

क्रूरता

जिस व्यवहार की भूमिका मे क्रूरता हो, वह सत् नही हो सकता। कई धार्मिक कहते हैं—धार्मिक के लिए व्यवहार की क्या आवश्यकता है? पर मैं समझता हू कि हृदय मे अहिंसा और अध्यात्म है और व्यवहार मे क्रूरता है, क्या यह सम्भव है? धार्मिक का व्यवहार क्रूर हो ही नही सकता। इसलिए व्यवहार के सत् होने मे एक शर्त है कि वह मृदु हो।

जैनेन्द्र—कही असहिष्णुता भी सद्व्यवहार का अग हो सकती है?

मुनिश्री—हा, हो सकती है।

जैनेन्द्र—असहिष्णुता होगी तो कठोरता आ जाएगी।

मुनिश्री—कुम्हार घडे को पीटता है पर नीचे उसका हाथ रहता है। मृदु-व्यवहार मे इसका अवकाश है।

जैनेन्द्र—सत् व्यवहार की कसौटी आत्मीयता हो सकती है, मृदु कैसे?

मुनिश्री—मैंने क्रूरता के प्रतिपक्ष मे मृदुता का प्रतिपादन किया, कठोरता के प्रतिपक्ष मे नही। कठोरता क्रूरता से भिन्न है। मा का पुत्र के प्रति और गुरु का शिष्य के प्रति आवश्यकतावश कठोर-भाव हो सकता है, पर क्रूरता नही।

भगवान् महावीर ने क्रूर व्यवहार को वर्जित करने वाले अनेक व्रतों का विधान किया। वृत्तिच्छेद, बन्ध, अगच्छेद, अतिभार आदि-आदि के वर्जन को चाहे आप अहिंसा कहे, चाहे क्रूर व्यवहार का वर्जन। नौकर, मुनीम आदि जो अपने आश्रित हो, उनकी आजीविका का विच्छेद करना वर्जित है। वह धार्मिक भी कहा है, जो गाय के दूध न देने पर घास न डाले। पशु पर अधिक भार न लादा जाए, यह क्रूर व्यवहार का वर्जन है। क्रूरता मे धर्म टिकेगा कैसे? भोजन मे अमृत भी है, जहर भी है। दोनो एक साथ कैसे होंगे? धर्म भी है, क्रूरता भी है, दोनों साथ-साथ नही हो सकते। व्यवहार मे क्रूरता है तो वहा धर्म की आशा नहीं करनी चाहिए। व्यवहार की मृदुता का एक सूत्र है—इच्छाकार। यह जैन मुनियों की एक सामाचारी

है। इसका हार्द है—'यदि आप चाहे तो यह काम करें।' गुरु भी सामान्यतया **इच्छाकार** सामाचारी का प्रयोग करते हैं। फिर व्यवस्था कैसे चलेगी? आज्ञा देना—करना ही होगा—यह विशेष स्थिति मे प्राप्त है। जितना मेरा अस्तित्व है, उतना ही सामनेवाले का है। दोनो का अस्तित्व सापेक्षता से जुडा है। एक मेरी अपेक्षा है, एक दूसरे की है। मैं उसकी अपेक्षा मे योग दू और वह मेरी अपेक्षा मे योग दे, यह समाज या सामूहिकता का आधार है। प्राचीनकाल मे दास क्रीत होता था। खरीदने के वाद वह उसका होता था। क्रीत को प्राणदण्ड भी दिया जाता था। इसलिए दास-प्रथा जघन्य मानी गई और उसका विच्छेद किया गया।

कपट

कुछ लोग कहते हैं कि आज के युग मे सरलता उपादेय नही है। मुझे लगता है कि सरलता शाश्वत सत्य है। वह सदा उपादेय है। उसके विना मन की शान्ति मिल ही नही सकती। सरलता को अनुपादेय वताने वाले भूल जाते है कि सरलता और भोलापन एक नही है।

कुछ शब्द रूढ हो गए हैं। उनमे परिवर्तन की अपेक्षा है।

जैनेन्द्र—सदाचार शब्द चलता है। किन्तु सामाचार काफी नही, सत्याचार होना चाहिए। सदाचार समाज की मानी हुई तात्कालिक नीति है। यदि धर्माचरण का विचार भी वही तक रह गया तो जिस क्रान्ति की आवश्यकता है, वह धर्म की ओर से नही आएगी, धर्म को उससे गहरे जाना चाहिए। शान्ति-सहिष्णुता आदि शब्द भी कुछ वैसे ही रूढार्थ मे प्रयुक्त होने लगे हैं।

मुनिश्री—सदाचार मे सत् शब्द है, वह भी सत्य का वाचक है। सत् अर्थात् सत्य। समय की मर्यादा के साथ दूसरा अर्थ आ गया। सदाचार सत्याचार ही न रहा, अच्छा आचार भी वन गया। भाषाशास्त्र के अनुसार शब्द का अपकर्ष और उत्कर्ष होता रहा है।

जैनेन्द्र—सत्याचार की अभिव्यक्ति वह होगी, जो आज सदाचार मे

नही है।

मुनिश्री—यह ठीक है। सदाचार के पीछे जो भावना आ गई है, शब्द-परिवर्तन से उसमे भावना भी परिवर्तित हो सकती है।

जैनेन्द्र—साहित्य मे प्रतिक्रिया और पलायन—दो शब्द बहुत चल रहे हैं। मुझे पलायनवादी कहा जाता है। मैं कहता हू, ऐसा कौन है जो बैल को सामने देखकर पलायन न करे?

मुनिश्री—हर शब्द की यही स्थिति है। उत्कर्ष, अपकर्ष, उत्क्रान्ति, अपक्रान्ति से मुक्त कोई शब्द नही है। आज से दो-ढाई हज़ार वर्ष पहले 'पाषण्ड' शब्द श्रमण-सूचक था। अशोक के शिलालेख, जैन और बौद्ध साहित्य में उसका गौरव के साथ प्रयोग हुआ है। आज 'पाषण्ड' शब्द कुत्सित बन गया है। पाषण्डी कहने से अप्रिय-सा लगता है।

जैनेन्द्र—असुर शब्द हमारे लिए घृणा का है पर ईरान और फारस मे असुर देव के लिए है।

मुनिश्री—प्राचीन साहित्य मे असुर शब्द देव के अर्थ मे था। यक्ष भी महत्त्वसूचक था। आज उससे भिन्न है। आज 'साहसिक' शब्द प्रशसासूचक है। जब चला था, उस समय अविमृश्यकारी—बिना विचारे कार्य करने वाले के अर्थ मे था। अर्थ के अपकर्ष का उत्कर्ष हो गया।

राजेन्द्र—तो क्या शब्द विचार-जनित है?

मुनिश्री—शब्द प्रवृत्ति और विचार दोनो की सृष्टि है। शब्द मे अपने आप कोई शक्ति नही, वह मात्र द्योतक है। कर्म तेजस्वी होता है तो शब्द सौन्दर्य पा लेता है। उसके क्षीण होने पर शब्द-शक्ति भी क्षीण हो जाती है। राजा यानी ईश्वर जो था, वह आज राज-तन्त्र क्षीण होने से अप्रिय बन गया, इतिहास का शब्द रह गया।

राजेन्द्र—कर्म समाज-जनित है या विचार-जनित?

मुनिश्री—कोई भी कर्म पहले विचार मे आता है। व्यवहार विचार की प्रतिकृति है। विचार और कर्म का कार्य-कारण सम्बन्ध है। विचार के विकास की पृष्ठभूमि समाज है। इसलिए हम कह सकते हैं—समाज मे

विचार और विचार से कर्म निष्पन्न होता है।

राजेन्द्र—सामाजिक कर्म के निर्माण मे विचार कारण है या विचार के निर्माण मे सामाजिक घटना ?

मुनिश्री—सामाजिक घटनाओ मे से विचार फलित होते है। फिर उनसे कर्म निष्पन्न होते हैं।

राजेन्द्र—जो विचार हममे हैं, वे वाह्य प्रतिक्रिया से पैदा हुए हैं, इसलिए वे क्रियात्मक नही, किन्तु प्रतिक्रियात्मक हैं। जैसे गणित का प्रश्न है, उसका हल अनूठा हो सकता है पर वह अनूठा होने पर भी उस प्रश्न का वन्दी है।

जैनेन्द्र—(ये कहते हैं) अपने विचार के विभु नही, अधीन हैं।

मुनिश्री—प्रश्न के वाद उत्तर निष्पन्न होता है, इसलिए प्रश्न के उसका अधीन होना स्वाभाविक है। विचार के पीछे प्रश्न ही नही, व्यक्ति के अपने सस्कार भी हैं और वाह्य प्रतिक्रिया भी। मन मे विचार उठता है, यह क्यो ? क्योकि आपके अपने सस्कार हैं। हर विचार अपनी प्रतिक्रिया छोड जाता है। आज कोई विचार करते हैं, उसकी प्रतिक्रिया शेष रहती है, तभी स्मृति होती है। वाह्य परिस्थिति का प्रभाव भी होता है।

राजेन्द्र—हमारे सारे विचार सामाजिक घटनाओ से तो छनकर आ रहे हैं।

मुनिश्री—आ सकते हैं, पर यह एकान्तिक वात नही है। हमे वहुत वार स्थूल मन (चेतन मन) के पीछे जो अचेतन मन (अधिक सम्पन्न) है, उससे निर्देश मिलते हैं।

राजेन्द्र—क्या उससे कुछ नयी निष्पत्ति होती है ?

मुनिश्री—ऐसी कोई घटना नही हो सकती, जिसे हम सोलह आना नयी कह सकें। नरसिह का अवतार एक नयी घटना है पर उसमे नर और सिंह दोनो का योग है। सारी विचित्रता योगज निष्पत्ति है। वैज्ञानिक प्रयोग भी विलकुल नये नही हैं। दो का होना नया नही है, नया है अनेक मे से किन्ही दो का योग। जितनी औषधिया है, वे क्या हैं ? वनस्पति के योग ही तो हैं।

आदि से अन्त तक कोई नयी सृष्टि नहीं है। योग का प्रयोग नया है।

जैनेन्द्र—विचार की क्रिया का कारण भीतर नहीं है। क्रिया का कारण व्याप्त परिस्थिति या समय है।

राजेन्द्र—अहंता हमारी प्रतिक्रिया का पिण्ड है।

मुनिश्री—अहंता के पीछे एक और भी है जो उससे भिन्न है और योगज है। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त न्यूटन ने दिया। सिद्धान्त की कल्पना बाह्य निमित्त से आयी। उसके पीछे कोई शास्त्रीय ज्ञान नहीं था। तत्काल सेव को गिरते देख कल्पना हुई। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त यदि केवल घटनाओं की प्रतिक्रिया होती तो वह पहले भी हो सकता था और किसी भी व्यक्ति को हो सकता था। वह न्यूटन को ही क्यों हुआ? किसी दूसरे को क्यों नहीं हुआ? इस चर्चा को समाप्त करने से पूर्व हम इतना और समझ लें कि व्यक्ति की अपनी योग्यता और बाह्य घटना दोनों के योग से कोई नया ज्ञान निष्पन्न होता है।

राजेन्द्र—चित्त को स्वीकार न करने में क्या कठिनाई है?

मुनिश्री—कठिनाई कोई नहीं, उसे न मानना स्वाभाविक है। उसे मानने में पराक्रम की आवश्यकता है। जो दृश्य है, वह चित्त नहीं है। इसलिए आस्तिक की अपेक्षा नास्तिक होना अधिक सरल है।

जैनेन्द्र—आस्तिकता ऐसी चीज है, जो घर में पैदा होने से ही आ जाती है। नास्तिकता बुद्धि के प्रयोग से होती है। मैं पहले आस्तिक था, फिर बहुत वर्षों तक अपने को नास्तिक कहता था। अब मानने लगा हूँ आस्तिक हूँ। पहली आस्तिकता जल्दी टूट गई।

मुनिश्री—यह आस्तिकता पुरुषार्थ से आयी। मन, इन्द्रिय, बुद्धि, शरीर आदि जो साधन हैं, वे आत्मा के अस्तित्व की जानकारी में प्रत्यक्ष सहायक नहीं हैं। डाक्टर अणु-अणु को चीर देता है पर शरीर में कहीं भी चित्त नहीं मिलता। इसीलिए मैं यह कहता था चित्त को मानना आवश्यक है।

जैनेन्द्र—स्वीकार करता हूँ, गुरु हैं पर चित्त नहीं है।

मुनिश्री—चेतना की निष्पत्ति मानते हैं, अद्भुत चेतना नहीं मानते।

त्रैकालिक चेतना का स्वीकार बहुलाश मे आस्था के बल पर माना जाता है। बुद्धि के बल पर माना जाए तो वह दो वकीलो के वाद-विवाद का-सा रूप हो जाता है, हाथ कुछ नही आता। आस्था, अनुभूति और ध्यान का पक्ष प्रबल हो जाए तो फिर चित्त के अस्वीकार मे कठिनाई होगी।

राजेन्द्र—शरीर के बिना चैतन्य का कोई अस्तित्व है ?

जैनेन्द्र—प्रेत है। प्रेत यानी शरीर-मुक्त चित्त।

राजेन्द्र—प्रेत या तो है नही और है तो शरीर-मुक्त नही।

मुनिश्री—विद्युत् मे प्रकाश की शक्ति है पर उसकी अभिव्यक्ति बल्ब मे होती है। वैसे ही चित्त की अभिव्यक्ति शरीर मे होती है।

राजेन्द्र—विद्युत् को प्राथमिकता देते हैं, बल्ब को क्यो नही देते ?

मुनिश्री—विद्युत् आगत है, बल्ब मे निष्पन्न नही। इसी प्रकार शरीर मे चेतना निष्पन्न नहीं, अनुस्यूत है।

राजेन्द्र—चित्त को शरीर से भिन्न जानने की वैज्ञानिक पद्धति क्या है ?

जैनेन्द्र—शरीर से भिन्नता का पीछा करना आपको क्यो आवश्यक है ?

मुनिश्री—आपके पास प्रयोगशाला है। आप शरीर के कण-कण की छानबीन कर सकते हैं पर शरीर से मुक्त चैतन्य को जानने के आपके पास साधन कहा हैं ? हमारे पास ज्ञान के साधन पाच इन्द्रिया है। वे शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श को जान सकती हैं। उनको शरीर द्वारा जाना जा सकता है, उसमें विद्यमान चैतन्य को नही जाना जा सकता। यदि आप शरीर और चैतन्य की भिन्नता जानना चाहते हैं तो उसका साधन ध्यान है। समुचित मात्रा मे ध्यान करने पर आपको यह अनुभूति न हो तो मुझे आश्चर्य होगा।

जैनेन्द्र—धर्म मे से पराक्रम निकले तब अध्यात्म सम्पन्न होता है, अन्यथा शैथिल्य रहता है। अन्याय होता है।

मुनिश्री—उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम— ये पाच शब्द हैं। इनसे मुक्त कोई भी धर्म-क्रिया नही है। इनका उपयोग रण मे भी हो सकता है और धर्मक्षेत्र मे भी हो सकता है और व्यापार मे भी हो सकता

है। पराक्रम शून्य है तो निकम्मा है। यह मान लिया कि जो धार्मिक है, उसे सहिष्णु होना चाहिए। एक गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल सामने कर देना चाहिए। इसमें पराक्रम की भावना नहीं, हीनता आ गई है। उपवास चैतन्य का पराक्रम है। आज उपवास 'न खाना' मात्र रह गया है।

जैनेन्द्र—'जिन' शब्द में भी पराक्रम था।

राजेन्द्र—जैनेन्द्र में भी है।

जैनेन्द्र—जैनेन्द्र में 'जिन' के साथ 'इन्द्र' का योग आ गया। समर्पण हीनभावना नहीं है। हीन-भावना के कारण अपने को कुछ न मानना नपुंसकता है। प्रार्थना में हीन-भावना नहीं, नम्रता है, आकिंचन्य है।

मुनिश्री—आकिंचन्य में तीन लोक का प्रभुत्व है।

सापेक्षता

सापेक्ष व्यवहार अर्थात् सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार। सामाजिक प्राणी को हर स्थिति में अपेक्षा रहती है। समाज का आधार ही सापेक्षता है। इससे प्रेम का वातावरण बनता है। उपेक्षा से उदासीनता आती है और दूरी बढ़ती है। आचार्यश्री महोत्सव के दिनों में अधिक व्यस्त रहते हैं। व्यस्तता के कारण किसी की बात को ध्यान से नहीं सुना जाता तो वह समझता है मेरे प्रति निरपेक्ष व्यवहार हो रहा है। यह साधुओं की स्थिति है, दूसरों की स्थिति तो और अधिक चिन्तनीय होगी। हर व्यक्ति चाहता है मेरी अपेक्षा हो। अपेक्षा का सम्बन्ध मधुर होता है। सापेक्षता में कठोर व्यवहार भी खलता नहीं है। अच्छा व्यवहार करते हुए भी निरपेक्षता बरते तो सामने वाला कहेगा, यह तो ऊपर का व्यवहार है, दिखावा है। परिवार में कटुता आती है, उसके पीछे निरपेक्षता रहती है, जितनी सहानुभूति की आवश्यकता होती है उतना व्यवहार नहीं होता है। मैंने अपने जीवन में अनुभव किया है। मैंने अपनी व्यस्तता के कारण [illegible] आवश्यकता में कम बातचीत की, फलतः मुझे [illegible] ठहराया गया। मैंने [illegible] नहीं लिया, फिर भी [illegible]

जितनी सामाजिक जीवन मे वरतनी चाहिए थी। इसीलिए मैं अव्यावहारिक वन गया। घर के मुखिया इस ओर सजग नही होते तव प्रतिक्रिया होती है। इसीलिए प्रमुख व्यक्ति इस ओर सजग रहते है। आचार्यश्री ने इसी वर्ष मर्यादा-महोत्सव के दिनो मे साधु-साध्वियो से कहा कि जिसको आवश्यकता हो, वह मेरे से समय माग ले। उन्होंने एक-एक को आमन्त्रित कर वातचीत की। दस मिनट की वातचीत मे आचार्यश्री उन्हे क्या दे देते है। फिर भी वे सापेक्षता के वातावरण मे पा अपने को सार्थक मानते हैं, कृतकृत्य हो जाते हैं। कृतार्थता सापेक्षता से आती है, प्राप्ति से नही।

चन्दन—क्या यह राग नही है ?

मुनिश्री—अनुराग है। अभी हम धर्मानुराग से रक्त हैं। **सम्यक् दर्शन** के आठ सूत्र हैं। उनमे एक **वात्सल्य** है। **वात्सल्य** के विना एकसूत्रता नही रहती। उससे कई वातें फल जाती हैं। वात्सल्य से कठोर अनुशासन भी कर सकते हैं, प्रायश्चित्त भी दे सकते हैं, ऐसी परिस्थिति मे भी डाल सकते हैं, जिसकी कल्पना करना कठिन है। वात्सल्य का धागा सहानुभूति की सूई मे सहज ही पैठ जाता है। अनुराग और विराग दो नही है। एक के प्रति अनुराग ही दूसरे के प्रति विराग है। आत्मा, परमात्मा, मोक्ष या धर्म के प्रति जो अनुराग हैं, वह शुद्ध हैं।

चन्दन—क्या वात्सल्य या अनुराग मोह नही है ?

मुनिश्री—हो सकता है पर सामाजिक जीवन के सम्वन्धो से उसे निकाल कैसे पाएगे ? पिता-पुत्र का सम्वन्ध है। पिता पुत्र की चिन्ता करता है, अपेक्षा के साथ निर्वाह करता है, तो व्यवहार माधुर्यपूर्ण होता है। यदि वह एकत्व की भावना से सोचे—'अकेला ही व्यक्ति आया है, अपने ही पुण्य-पाप साथ चलते हैं, कौन किसका साथी है'—और परिवार मे रहता हुआ भी निरपेक्ष व्यवहार करे तो वह व्यवहार पुत्र के मन मे पिता के प्रति शत्रु-भाव पैदा करता है। **राजा उद्रायण** के मन मे आया, पुत्र को राज्य नही देना चाहिए, क्योकि राजा नरकगामी होता है। पुत्र को क्यो नरक मे ढकेला जाए ? इसलिए उसने अपना राज्य पुत्र को न देकर भानजे को

दिया। परिणाम यह आया कि पिता के प्रति पुत्र का द्वेष हो गया और वह अन्तिम समय तक बना रहा।

उसने कहा—सबसे क्षमा-याचना कर सकता हूं, पर पिता से नही।

भानजे के मन मे आया—मामा कही वापस आकर राज्य न ले ले, इसलिए उसने उद्रायण को मार डालने का प्रयत्न किया। व्यवहार का लोप करने से यह परिणाम आया।

जैनेन्द्र—क्या निश्चय और व्यवहार—ये दो बातें मन मे रखनी पड़ेगी? निश्चय मे से व्यवहार नही निकल सकता क्या? व्यवहार स्वय निश्चय की साधना मे फलित होगा। निश्चय को साधेंगे तो अनुराग, विराग नही होगा। व्यवहार की ओर झुके तो निश्चय टूटेगा, निश्चय पर झुके तो व्यवहार टूटेगा। निश्चय को पूरी ईमानदारी से पालन करेंगे तो व्यवहार स्वय सधेगा।

मुनिश्री—तीर्थंकर सारे व्यवहार का प्रवर्तन करते है, सघ का प्रवर्तन करते है, व्यवस्था का प्रवर्तन करते हैं। यह व्यवहार कहा से आया? प्रवृत्ति उनके जीवन मे कहा से आयी? निश्चय मे से ही व्यवहार निकला है। तीर्थंकर कृतकृत्य हो गए, उनके लिए करना कुछ प्राप्त नही, फिर भी वे करते है। कोई भी शरीरधारी व्यवहार से मुक्त नही हो सकता। जब तक शरीर का पराक्रम है तब तक व्यवहार होता रहेगा। श्रावक के बारह व्रतो मे एक अतिचार है कि 'अपने आश्रितो की जीविका का विच्छेद नही करूंगा।' यह व्यवहार कहा से आया? जो जितना धार्मिक होगा, उसका व्यवहार भी उतना ही सुन्दर होगा।

जैनेन्द्र—व्यवहार मे जितनी त्रुटि हो उतनी ही धार्मिकता की कमी होगी।

मुनिश्री—रूपचन्दजी सेठिया धर्मनिष्ठ श्रावक थे। वे जितने धर्मनिष्ठ थे, उतने ही व्यवहार के प्रति सजग थे।

चन्दन—क्या व्यवहार मोह नही है?

मुनिश्री—आप व्यवहार मे केवल मोह ही क्यो देखते है, उसमे सार

जुडे हुए न्याय या समभाव को क्यो नही देखते ? कल्पना कीजिए—एक पिता के चार लडके हैं। एक के प्रति अधिक स्नेह है। उसे दो लाख रुपये देता है। दूसरे को एक लाख, तीसरे और चौथे को आधा-आधा लाख। परिणाम होगा कि परस्पर झगडे होगे। पिता अपने को धार्मिक भले माने पर पुत्र उसे अधार्मिक और अव्यावहारिक मानेंगे। यदि व्यवहार धर्म से प्रभावित होता तो सबके प्रति समान वृत्ति होती। तीन के प्रति अन्याय नही होता।

चन्दन—अन्याय न हो, यह ठीक है। पर एक-दूसरे के प्रति भावना होती है, वह क्या हमारे पूर्व-कर्म का परिणाम नही है ?

मुनिश्री—हमारी मान्यता और नीति भी तो हो सकती है।

जैनेन्द्र—पर मैं मानता हू कि इसकी जिम्मेदारी सामने वाले व्यक्ति पर भी होती है।

मुनिश्री—वीतराग के प्रति भी किसी का असन्तोष हो सकता है।

जैनेन्द्र—वल्कि तीव्र असन्तोष होता है। हमे कोई मारने नही आता पर गाधीजी को मार दिया। ईसा प्रेम की मूर्ति थे पर उन्हें फासी मिली।

मुनिश्री—वैषम्य अपनी मनोवृत्ति के कारण उपजता है।

जैनेन्द्र—जिन्होने फासी लगाई ईसा को, ईसा के मन मे भी उनके प्रति प्रम था। यह ईसा का गुण था। जगत् के सचालन मे धर्म की आराधना करने वाला बाहर देखे, मेरे कारण क्या हो रहा है तो वह कुछ नही कर सकता।

मुनिश्री—सावधानी यह बरतनी है कि अपनी द्वेषात्मक प्रवृत्ति से तो कुछ नही हो रहा है। घर का दायित्व ले रखा है और उस स्थिति का लोप करना है तो विषमता पैदा होती है। उस स्थिति मे होना और उसका लोप करना इन दोनो मे कोई मेल नही है। कोई दायित्व न ले तो कोई कठिनाई नही। दायित्व ओढ ले और फिर न निभाए तो कठिनाई पैदा होती है।

चन्दनबाला का पिता राजा **दधिवाहन** था। **शतानीक** ने आक्रमण

किया। वह युद्ध के भय मे भाग निकला। सैनिक आए, नगर को लूटा। रानी को मरना पडा। **चन्दनबाला** को उठा ले गए। क्या हम मान लें, राजा भागा, उसके पीछे अहिसा की प्रेरणा थी ? अहिसा नही, प्रत्युत कायरता थी। सबके साथ विश्वासघात और कर्तव्य के प्रति गैरजिम्मेदारी। वह वैराग्य नही, दायित्व के प्रति विमुखता थी। यदि वैराग्य होता तो वह राज्य के दायित्व को अपने कन्धो पर ओढता भी क्यो ?

चन्दन—दायित्व ले और उसे निभाए तो क्या धर्म होता है ?

मुनिश्री—व्यवहार के प्रति सावधान रहने वाला दूसरो के मन मे धर्म के प्रति रुचि पैदा करता है। हम छह साधु है। एक बीमार है। मैं सोचू— 'इधर समय लगाने मे मेरे ध्यान मे बाधा आएगी। अगला लिखाकर लाया है। स्वय अपना कर्म अपने आप भोगना है, मैं क्या करू ?' यदि मैं ऐसा सोचू तो मैं धर्म के प्रति विमुखता पैदा करूगा, सम्मुखता कभी नही।

चन्दन—पत्नी बीमार है, ध्यान का समय आ गया। उस समय पति ध्यान करे या पत्नी की सेवा ?

मुनिश्री—ध्यान को मैं बहुत आवश्यक मानता हू पर व्यवहार मे रहने वाला सेवा का लोप कैसे करेगा, जहा दूसरो के मन मे धर्म और धार्मिक के प्रति विमुखता उत्पन्न होने का प्रसग हो।

जैनेन्द्र—सहानुभूति रहती है तो कोई व्यवहार बुरा नही है। व्यवहार की विमुखता अपने आप मे क्रूरता है।

मुनिश्री—अहिसा की बात परिणाम-काल मे सोचने की अधिक होती है, जबकि होनी चाहिए स्वीकार-काल मे। एक बार आचार्यश्री ने कहा था—राष्ट्र को रखना चाहते हैं, उस पर अधिकार रखना चाहते हैं तब अहिसा की बात नही सोचते, उसकी बात तो केवल सुरक्षा के समय सोचते हैं। हिसा का मूल परिग्रह की सुरक्षा मे नही किन्तु स्वीकार मे है।

फूलकुमारी—परिवार बढने पर अलग हो जाए, फिर व्यवहार की स्थिति क्या होगी ?

मुनिश्री—महावीर और बुद्ध घर मे चले गए, उन पर दायित्व नही

रहा। सम्बन्ध रखने की स्थिति मे यह बात लागू होती है। कोई व्यक्ति घर से निकलकर जगल मे चला जाता है तो उसकी स्थिति भिन्न हो जाती है। सम्बन्ध का दायित्व लेकर उसका पालन नही करता है, वह धार्मिक अपने व्यवहार से आसपास के अनेक लोगो को धर्म-विमुख बना देता है। अन्तरग का वैराग्य घनीभूत हो जाए, वहा व्यवहार के प्रश्न समाप्त हो जाते हैं।

२ : प्रेम का विस्तार

विस्तार यानी फैलना, 'स्व' की सीमा को लाघकर 'पर' की सीमा मे प्रवेश पाना या 'स्व-पर' की सीमा का भेद विसर्जित करना। व्यापारी प्रसरण करते हैं अप्राप्त काम-भोगो की प्राप्ति के लिए, अनुपलब्ध काम-भोगो की उपलब्धि के लिए। एक विस्तार ऐसा है जिसमे दोप प्राप्त होता है और एक विस्तार ऐसा है जिसमे दोप विसर्जित होता है। घृणा दोप है। व्यक्ति के मन मे अपने प्रति उत्कर्प का भाव होता है और दूसरे के प्रति हीन-भाव। यह भाव-भेद घृणा उत्पन्न करता है। अपने प्रति आकर्पण घनीभूत होता है, तो दूसरे के प्रति घृणा के सिवाय कुछ वच नही रहता। घृणा को मिटाने का सबसे अच्छा उपाय है प्रेम का इतना विस्तार कि जिसमे घृणा का अवकाश ही न रहे।

एक व्यक्ति प्रिय है, दूसरा अप्रिय। प्रिय के प्रति प्रेम होता है, अप्रिय के प्रति जुगुप्सा। इस भूमिका मे प्रेम की व्यापकता या सघनता नही है, इसलिए इसमें घृणा का अवकाश है। जहा घृणा है वहा द्वेप है। जहा द्वेप है वहा मानसिक अशान्ति है। घृणा हो और मानसिक अशान्ति नही, ऐसा हो नही सकता। घृणा और मानसिक शान्ति दोनों साथ-साथ नही चल सकती।

प्रश्न—क्या घृणित वस्तु से भी प्रेम करें ?

घृणा उस वस्तु मे नही, अपने मन मे है। विश्व के सारे के सारे पदार्थ सुन्दर बन जाए, कभी सम्भव नही। स्थिति का द्वैध रहेगा। पर उनके

आधार पर घृणा होना अनिवार्य नही है। हमे जो प्रिय है क्या वह सुन्दर है ? इसका उत्तर अनेकान्त की भाषा मे मिलता है। एक वस्तु सुन्दर नही है, फिर भी प्रिय है। एक वस्तु सुन्दर है पर प्रिय नही है। एक वस्तु सुन्दर भी है और प्रिय भी है। एक वस्तु सुन्दर भी नही है और प्रिय भी नही है। **सुन्दरता और प्रियता की नितान्त घनिष्ठता नहीं है।**

जैनेन्द्र—सुन्दरता दृष्टि से स्वतन्त्र चीज़ है क्या ? उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है क्या ?

मुनिश्री—सुन्दरता सस्थानगत और रूपगत होती है। प्रियता मनोगत होती है । कडवी से कडवी चीज भी मनोगत हो सकती है पर मधुर नही। अमुक स्त्री सुन्दर है पर पति के मन को नही भाती। यह क्यो ? उसके प्रति प्रियता का मनोभाव नही हुआ। प्रियता जहा जुडती है वहा घृणा नहीं रहती। मन मे प्रेम का विस्तार हो तो सामने वाली वस्तु गौण हो जाएगी कि वह मनोरम है या मनोरम नही है। प्रेम का विस्तार सबको समा लेता है, वह 'प्रति' पर निर्भर नही होता, अपने पर निर्भर होता है। 'प्रति' का अर्थ किसी के प्रति नही यानी सबके प्रति। प्रेम सम्बन्ध का विस्तार नही, आत्मगुण का विस्तार है।

जैनेन्द्र—आत्म-विस्तार मे शायद तारतम्य का अवकाश नही देखते है ?

मोहन—किसी के चार लडके है। चारो के साथ लेन-देन मे हल्का-भारी व्यवहार होता है, यह क्यो ?

जैनेन्द्र—उस भेद का भी अवकाश है। चारो मे मोह-राग के कारण भेद नही है। विवेक कृत है। आत्म-गुण के विस्तार मे विवेक का तारतम्य डूबता नही है, सबकी समानता नही होती।

मुनिश्री—एक साधु ने वेश्या के घर चातुर्मास करने की आज्ञा मागी। गुरु ने **स्थूलिभद्र** को वहा जाने की आज्ञा दी थी पर उसे नही दी। आज्ञा नही दी, उसके पीछे प्रेम ही था। भले आप उसे विवेक कह लें। वहा जाना उसके हित मे नही था इसलिए उसे आज्ञा नही दी। मा चार वर्ष के

बच्चे को चावी नही देती, वडो को दे देती है। वहा प्रेम की कमी नही, विवेक है। प्रेम मे अन्तर नही होता, फिर भी व्यवहार मे भेद बुद्धि-कृत आता है। सामने वाले के बुरे व्यवहार के कारण प्रेम मे अन्तर नही आएगा। विवेक मे अन्तर इतना-सा आएगा कि उसे ऐसा काम नही सौंपे जिससे उसकी हानि हो। विवेक पर-सापेक्ष है, प्रेम पर-सापेक्ष नही है।

कर्म की मर्यादा भिन्न-भिन्न है। एक दरिद्र को देख धनी के मन में, महावीर के मन मे और एक विचारक के मन मे भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। धनी उसे दस रुपये दे सकता है, महावीर कुछ नही दे सकते।

मोहन—सामने जैसी वस्तु हो, वैसी ही मन स्थिति वन जाती होगी ?

मुनिश्री—सामने अच्छा आदर्श है और अपना विचार अपवित्र है तो पवित्रता फलित नही होगी। मूर्ति के प्रति श्रद्धा न हो तो अनुराग प्राप्त नहीं होगा। मूर्ति अपने आप मे न प्रेम वाटती है और न घृणा। हर निमित्त की यह स्थिति है।

जैनेन्द्र—प्रेम मे विवेक का स्थान नही है क्या ?

मुनिश्री—विवेक से व्यवहार फलित होता है, प्रेम तो अखण्ड होना चाहिए। कोई मेरे साथ पाच प्रतिशत व्यवहार ठीक करता है और कोई दस प्रतिशत। प्रेम भी उसी अनुपात से हो तो वह खण्डित हो जाएगा।

जैनेन्द्र—पर-सापेक्षता प्रेम के लिए मगत है।

मुनिश्री—विस्तार की प्रक्रिया क्या हो, यह सहज ही प्रश्न हो सकता है। विस्तार का पहला सूत्र है—विचार की स्पष्टता या सम्यक् दर्शन। दूसरा सूत्र है—सकल्प का उपभोग। सकल्प की भाषा निश्चित और समय दीर्घ होना चाहिए। उतना दीर्घ कि उसे दोहराते-दोहराते उसमे तन्मयता आ जाए। भाषा का आकार एक होने से उत्तरोत्तर स्पष्टता आती है। आज कुछ, कल कुछ, परसो कुछ, इस प्रकार भाव-भाषा भिन्न होने से धारणा भिन्न-भिन्न वनेगी। हमारी पहचान निश्चित आकार से ही होती है। एक आकार होने से धारणा मे दृढता आती है। भाषा, भाव, स्थान और समय

की निश्चितता अवश्य प्रभाव लाती है।

जैनेन्द्र—सकल्प मे कर्तृत्व सहायक नही, बाधक बनता है। 'मैं प्रेम का हू', 'मैं प्रेम का हू'—इसमे महत्त्व प्रेम को मिलेगा। 'मेरा प्रेम बढ रहा है' इसमे जो कर्तृत्व है, वह अन्त मे बाधक बन जाएगा। कर्तृत्व अपने पास न रहे तो क्षमता का विस्तार हो सकता है। भजन मे प्रणिपात की भावना से तृप्ति मिलती है। वही सब है, मैं शून्य हो जाऊ। इसमे आत्म-गुणता, तत्समता का रास्ता सरल हो जाता है। मैं सब बनने मे हाथ फैलाता हू।

मुनिश्री—ध्यान की प्रक्रिया यही है। एक ध्येय है। मैं अपने आप मे इतना शून्य हो जाऊ कि वह मुझमे समाविष्ट हो जाए। ध्येय-आविष्ट का अर्थ है—ध्यान। **आचार्य रामसेन** ने इस शून्यीकरण को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होने लिखा है—

'यदा ध्यानबलाद् ध्याता, शून्यीकृत्य स्वावग्रहम्।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्, तादृक् सपद्यते स्वयम्॥'

ध्याता ध्यान के बल से अपने शरीर को शून्य कर लेता है। तब वह ध्येय स्वरूप मे आविष्ट होकर वैसा ही बन जाता है।

प्रेम के विस्तार का भी यही सूत्र है। चैतन्य के प्रति इतना प्रेम हो कि शरीर और मन अन्य भावो से शून्य होकर प्रेममय बन जाए।

३ : ममत्व का विसर्जन या विस्तार

ममत्व के विसर्जन से ममत्व का विस्तार हो जाता है और ममत्व के विस्तार से ममत्व विसर्जित हो जाता है। हम दोनो मे शब्द-भेद होने पर भी अर्थ-भेद नही है। अहकार और ममकार, ये दो मोह-व्यूह के सेनापति हैं। मोह की युद्धकालीन रचना बडी अभेद्य होती है।

ममकार का अर्थ है—अनात्मीय मे आत्मीयता का आरोपण। मेरा घर, मेरा परिवार, मेरा शरीर आदि-आदि। सबमे निकट शरीर है। शरीर से लेकर बाह्य वस्तुओ को अपना मानना ममकार है। ममकार अशान्ति का हेतु है। जिसके प्रति ममत्व हो, उसके योग मे हर्ष और वियोग मे कष्ट होता है। अपना लडका कहना नही मानता तो अधिक कष्ट की अनुभूति होती है। दूसरे का लडका यदि कहना न माने तो उतना कष्ट नही होता, क्योकि वह पराया है। ममत्व की रेखा ही व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेद डालती है।

ममत्व के बाद उसके विसर्जन की बात आती है। यह मेरा नही है, इतना कहने मात्र से ममत्व से मुक्ति नही मिलती। हमने अमुक-अमुक को अपना मान रखा है। फलस्वरूप जो मेरा है, उसके प्रति अनुराग और जो मेरा नही है, उसके प्रति द्वेष हो जाता है। मेरे की सुरक्षा के लिए मेरे से भिन्न को धोखा देने मे सकोच नही होता। यह मेरा है, यह मेरा नही, इस भेद-बुद्धि के पीछे अन्याय और शोषण पल रहा है। विसर्जन की प्रक्रिया

ही विस्तार की प्रक्रिया है। अमुक के प्रति मेरापन है, उसे निकाल दो और सबको मेरा मान लो। ममत्व की सकुचित सीमा मे अपना और पराया—यह द्वैध रहता है। इसलिए वहा अपना लाभ और दूसरे की हानि—इस स्थिति को अवकाश है। ममत्व की मर्यादा विस्तृत होने पर स्व-पर का द्वैध नही रहता। इसलिए वहा किसी के लाभ और हानि की स्थिति प्राप्त ही नही होती।

अकिंचन्य का अर्थ है—कुछ नही। मेरा कुछ नही, यानी सब कुछ मेरा है। आचार्यश्री से एक भाई ने पूछा—आपका हेडक्वार्टर कहा है? आचार्यश्री ने उत्तर दिया—कही नही है। कही नही यानी सर्वत्र। जहा जाते हैं, वही हेडक्वार्टर बन जाता है। वह एक स्थान पर होता तो वही होता, सर्वत्र नही होता। जिस दिन यह अनुभूति होगी कि मेरा कुछ नही है, उस दिन तीन लोक की सम्पदा अपनी हो जाएगी। कहा भी है—

'अकिंचनोहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवे।
योगिगम्यमिद प्रोक्त, रहस्य परमात्मन ॥'

अब व्यवहार की भूमिका पर आइए। साम्यवाद ममत्व-विसर्जन की प्रक्रिया है। सिद्धान्तत साम्यवाद बुरा नही है। जिस पद्धति से आज वह क्रियान्वित हो रहा है, उसे मैं अच्छा नही मानता। साम्यवादी शासन मे लडका जन्मता है, तब से वह राष्ट्र की सम्पत्ति है। धन और मकान भी अपने नही हैं। शरीर पर भी अपना अधिकार नही है। यह शासन की प्रक्रिया है। इसमे हृदय का सम्बन्ध नही होता, बलाभियोग होता है। ममत्व-विसर्जन की प्रक्रिया धार्मिक हो तो वह हार्दिक हो सकती है। धर्म का मूल मन्त्र है—**भेद-विज्ञान**।

भेद-विज्ञान यानी शरीर और आत्मा के पृथक् अस्तित्व का स्वीकार। यही सम्यक्-दर्शन है। साख्य-दर्शन मे इसे विवेकख्याति कहा गया है। देह मे आत्मीय बुद्धि हो तो विशाल ज्ञान होने पर भी सम्यक्-दर्शन प्राप्त नही होता। भारतीय धर्म ममकार-विसर्जन पर बल देते रहे हैं। अब उसे प्रायोगिक रूप देने की आवश्यकता है। उसमे भाव, भाषा और परिस्थिति—

इस सारे चक्रवाल पर ध्यान केन्द्रित करना वाछनीय होगा। आप साधुओ की भाषा पर ध्यान दें। वे कहते हैं—यह वस्तु मेरी **निश्राय** (आश्रय) मे है। यह मेरा है—ऐसा कहने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता है।

जैनेन्द्र—ट्रस्टीशिप के लिए यह '**निश्राय**' शब्द चल सकता है। गाधीजी को इसके लिए उपयुक्त हिन्दी-शब्द नही मिल रहा था।

मुनिश्री—भिक्षु स्वामी और जयाचार्य ने साधु-सघ मे ममत्व-विसर्जन को व्यावहारिक रूप दिया था। वह तेरापथ की वडी उपलब्धि है। चातुर्मास-समाप्ति के वाद साधु-साध्वियो के सिंघाडे आचार्य-दर्शन को आते है। वे सवसे पहले इस शब्दावली का उच्चारण करते हैं—ये मेरे सहयोगी साधु या साध्विया, पुस्तकें और मैं आपकी सेवा मे समर्पित हैं। आप जहा चाहे वहा रहने को तैयार हैं।' इस पूर्ण समर्पण के वाद ही वे भोजन और पानी लेते हैं।

ममत्व-विसर्जन की प्रक्रिया निष्पन्न होने पर शान्ति का उदय या आत्मोदय होता है। लोग दूध को गर्म करते हैं, जमाते हैं, विलौना करते हैं, यह सव क्यो करते हैं? मक्खन के लिए। वैसे ही सारा प्रयत्न शान्ति के लिए है, सुख के लिए है, यह कहते-कहते मैं रुक जाता हू। गीता मे कहा है—**अशान्तस्य कुत सुखम्**—अशान्त को सुख कहा? जितने शास्त्र लिखे गए, वे सव शान्ति की उपलब्धि के लिए लिखे गए, ऐसा एक आचार्य का अभिमत है—

'शमार्थं सर्वशास्त्राणि, विहितानि मनीषिभि।
स एव सर्वशास्त्रज्ञ, यस्य शान्त सदा मन ॥'

चन्दन का भार ढोनेवाला गधा केवल भार का भागी वनता है, सुगन्ध का नही। केवल शास्त्रो की दुहाई देनेवाला शास्त्रो का भार ढोता है, उनकी सुगन्ध का अनुभव नही कर पाता। सुगन्ध का अनुभव उसे होता है, जिसका मन शान्ति से पुलक उठता है।

पाच-छह वर्ष पहले एक भाई मेरे पास आया। उसने पूछा—'आप गुरु किसे मानते हैं?' मैंने कहा—'अपने आपको। दूसरे को कौन मानता

है ?' 'क्या आप आचार्य तुलसी को गुरु नही मानते ?' उसने फिर पूछा। मैंने कहा—'आचार्य तुलसी को इसीलिए मानता हू कि उनका अहम् मेरे अहम् से मुझे भिन्न प्रतीत नही होता।'

जहा अहम् का तादात्म्य होता है वही गुरु और शिष्य का एकत्व होता है। कबीर ने कहा है—

जब 'मैं' था तब गुरु नहीं अब गुरु हैं 'मैं' नाहि।
प्रेम गली अति साकरी, जामे दो न समाहि ॥

जब अहम् था, तब गुरु नही थे। अब गुरु हैं, अहम् नही है। ममत्व-विस्तार में सारा विश्व अपना हो जाता है। वहा दूसरे की बुराई के लिए अवकाश नही रहता। प्रेम की सघनता इतनी है कि कही शून्यता नही है तो दूसरी बात कहा से आएगी ? ममत्व का इतना विस्तार होने पर सीमित ममत्व स्वय विसर्जित हो जाता है। ममत्व का विस्तार हकारात्मक है और ममत्व-विसर्जन नकारात्मक है। तात्पर्यार्थ मे दोनो एक हैं। पहले सम्यक्दर्शन होता है, फिर उसमे श्रद्धा उत्पन्न होती है। जिसमे श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमे चित्त लीन हो जाता है—

'यत्रैवाहितधी पुस, श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्त तत्रव लीयते ॥'

ममत्व-विसर्जन की बात अच्छी है, यह प्रथम परिचय है। ऐसी स्पष्ट अनुभूति होने पर श्रद्धा बनती है। ज्ञान तरल है। उसका घनीभूत होना ही श्रद्धा है। पानी तरल है। बर्फ उसी का घनीभूत रूप है। दूध तरल है। खोया उसी का घनीभूत रूप है। वैसे ही ज्ञान पुष्ट होते-होते श्रद्धा बन जाता है।

जैनेन्द्र—ज्ञान बुद्धि से होता है और श्रद्धा अन्तर्मन से।

रामकुमार—यह श्रद्धा कैसे प्राप्त हो ?

मुनिश्री—दूध से खोया बनता है, यह जान लेने पर उसे गाढा बनाने के लिए समय लगाना होता है। वैसे ही ममत्व-विसर्जन की प्रक्रिया जान लेने के बाद उसके प्रयोग की आवश्यकता है।

मदन—ममत्व-विसर्जन से क्या सार्वजनिक जीवन मे वाधा नही आती ?

मुनिश्री—व्यवहार मे वाधा नही वल्कि वह अधिक स्वस्थ होगा। 'छूट जाने' की स्थिति मे वाधा आती है, किन्तु 'छोड देने' की स्थिति मे नही। आचार्यश्री के पास एक वार शरणार्थी आए और कहा—'हमारा सव लुट गया।' आचार्यश्री ने कहा—'धन आपके पास नहीं है, हमारे पास भी नही है। मकान आपके पास नहीं है, हमारे पास भी नही है। परिवार आपके विछुड गए, हम भी परिवार से दूर हैं। स्थिति दोनो की समान है, पर अनुभूति मे अन्तर है और वह इसलिए कि आपसे ये 'छूट गए' हैं और हमने इन्हे 'छोड दिया' है।

फूलकुमारी—परिवार मे सलग्न रहते हुए ममत्व का विस्तार करें तो क्या व्यवहार में कटुता नही आती ?

जैनेन्द्र (प्रश्न को स्पष्ट करते हुए कहा)—प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। एक परिवार का सदस्य है। वह अपने ममत्व का विस्तार करना चाहता है तो पहले वह सगे रिश्तेदारो से आगे कम रिश्तेदारो मे अपना ममत्व वाटता है, फिर उसमे आगे। इस प्रकार यदि वह क्रमिक और आकिक विस्तार करता है तो परिवार मे दिक्कत पैदा होती है। एक वार सवाल आया—व्यक्ति से विराट् वनना चाहिए। विराट् तो अनन्त है, वह कैसे होगा ? विराट् वनना नही है, अह शून्य हो जाए तो फिर उसकी सीमा कहा रह गई ? अनन्त तक विराट् हो जाएगा।

एक गिलास दूध मे एक चम्मच शक्कर डालने से वह सारे गिलास मे फैलेगी, उसके आठवे भाग मे नहीं। विस्तार की प्रक्रिया आकिक व पारिमाणिक नही, गुणात्मक है। पचास हजार रुपए हैं। वीस आदमी सगे हैं और वीस आदमी परिवार के है। जिनमे यह भाव आया कि ममत्व-विसर्जन करना है उसने अपना सग्रह कम कर लिया। वह सग्रह ने सम्बन्ध-विच्छेद कर वैसा कर सकता है।

मुनिश्री—ममत्व-विसर्जन यदि दानात्मक हो तो कटुता आ सकती है,

किन्तु त्यागात्मक हो तो उसकी सभावना नही दिखाई देती। दान और त्याग मे वडा अन्तर है। दान मे अह वद्ध होता है जव कि त्याग मे वह मुक्त हो जाता है। ममत्व के साथ जुडे भय और चिन्ता निर्ममत्व के साथ जुडकर अभय और निश्चितता मे वदल जाते है। यह मन की शान्ति का अमोघ सूत्र है।

४ : सहानुभूति

सहानुभूति मे तीन शब्द हैं—सह, अनु और भूति। भूति यानी होना—अस्तित्व। मैं हू, यह मेरा अस्तित्व है, मेरा व्यक्तित्व है। अध्यात्म मे वैयक्तिकता होती है, उसमे व्यक्ति केवल होता है। मैं हू, यह शुद्ध अस्तित्व है। 'मैं अमुक हू', यह सामाजिक अस्तित्व है। मैं विद्वान हू, धनी हू, धार्मिक हू, 'हू' के पहले विशेषण लगा कि व्यक्ति भूति से अनुभूति के जगत् मे आ गया। मैं कई बार सोचा करता था कि व्यक्ति और समाज को बाटने वाली रेखा क्या है? अब मुझे सूझ रही है कि वह 'भूति' है। इससे इधर व्यक्ति है और उधर समाज। जुडने पर 'भूति' का अर्थ होता है—किसी के पीछे होना। अनुभूति स्वतन्त्र नही होती। वह ऐन्द्रियिक हो या मानसिक, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता।

हमारे सामाजिक जीवन की स्वतन्त्रता सापेक्ष होती है। इन्द्रिय और मानसिक जगत् परिपूर्ण निरपेक्ष नही हो सकता। स्वतन्त्रता की भिन्न-भिन्न मर्यादाए हैं। स्वतन्त्रता वहा होती है, जहा केवल क्रिया हो, प्रतिक्रिया के लिए अवकाश न हो। अनुभूति मे सारी प्रतिक्रियाए होती हैं। एक बच्चा मिट्टी का ढेला फेकता है। दूसरा वापस ढेला फेंकता है। यह क्रिया की प्रतिक्रिया है। प्रश्न आता है कि पहले ने ढेला फेंका क्या वह क्रिया नहीं है? नही, वह भी प्रतिक्रिया है। भूति के बिना कही क्रिया नही होती। हर क्रिया सस्कार और स्मृति से परतत्र होती है। स्मृति से बाधित

या प्रेरित कोई भी क्रिया स्वतन्त्र हो सकती है, ऐसा नही लगता। प्रतिक्रिया का अर्थ है—व्यक्तित्व का प्रतिबन्ध। सामाजिक जगत् मे क्रिया नही किन्तु प्रतिक्रिया होती है। अनुभूति सामाजिकता है। एक शब्द 'सह' और लगा, फिर तो वह शुद्ध सामाजिकता हो गई। जैसे—सह-शिक्षा, सह-चिन्तन, सह-भोजन आदि-आदि। सहानुभूति सामाजिकता का बडा गुण है। जहा अनुभूति 'सह' नही होती, वहा स्वार्थ को विकसित होने का अवसर मिलता है। एक व्यक्ति शोषण इसलिए करता है कि उसमे सहानुभूति नही है। यदि सहानुभूति होतो वह शोषण नही कर सकता। अपने समान दूसरे के अस्तित्व का अनुभव करे, वह शोषण व अन्याय कभी नही कर सकता। क्रूरता का विकास जो हुआ और हो रहा है, वह सहानुभूति की निरपेक्षता से हुआ है। सहानुभूति की स्थिति जीवन मे हो तो क्रूरता नही पनप सकती। अपनेपन की तीव्रता मे क्रूरता विकसित होती है, अहिंसा या दया की बातें क्षीण हो जाती हैं। स्वार्थ का पोषण सहानुभूति के अभाव मे होता है। सघर्ष, द्वन्द्व आदि सहानुभूति के अभाव मे ही फलते हैं। सामाजिकता का स्वीकार और सहानुभूति का तिरस्कार—इन दोनो मे परस्पर विरोध है।

शुद्धोपयोग सामाजिक जीवन मे भी वैयक्तिकता की स्थिति है। उसमे केवल होने से आगे—अपने अस्तित्व के सिवाय—कुछ नही है। यह मानसिक क्लेशों से मुक्त होने की प्रक्रिया है। साम्ययोग, चित्त, निरोध, ध्यान या शुद्धोपयोग वह स्थिति है, जहा चेतना के व्यापार मे बाह्य विषय की सलग्नता नही होती। मानसिक क्लेश शुद्धोपयोग के साथ बाह्य योग होने से होता है। 'मैं सुखी हू', यह शुद्धोपयोग नही है। मेरे साथ सुख का भाव जुडकर मेरे अस्तित्व को गौण बना देता है। सुख बाह्य प्रतीति-सापेक्ष है, वह स्वाभाविक नही है। 'मैं दुखी हू', यह क्लेश की अनुभूति है। सुखानुभूति, दुखानुभूति, क्लेशानुभूति—इन सारी अनुभूतियो से अलग सहज आनन्द की स्थिति है, वह शुद्धोपयोग है।

यदि हम शुद्धोपयोग की भूमिका मे होते तो सहानुभूति की आवश्यकता

नही होती। मेरी अनुभूति का दूसरे के साथ तारतम्य नही होता। किन्तु हम लोग अनुभूति की भूमिका पर जी रहे हैं, इसलिए सम्पर्क-सूत्रो से मुक्त नही होते। भले फिर वे साधु हो, तपस्वी हो या व्यापारी हो, भले फिर वे प्रवृत्ति मे सलग्न हो या निवृत्त, सामाजिकता का प्रश्न उनसे विच्छिन्न नही होता।

जब तक हम शरीर, मन और वाणी से सपृक्त है, तब तक हमारा सहानुभूति की भूमिका से अलग होना सम्भव नही है। सहानुभूति की मर्यादा यह है कि हम अपनी बाह्य स्वतन्त्रता का उपयोग दूसरो की स्वतन्त्रता के सदर्भ मे करें।

यदि हम दादा धर्माधिकारी को अतिथि मानेंगे तो उनकी स्वतन्त्रता बाधित होगी, हम पर भी भार होगा। हम भी मनुष्य हैं। वे भी मनुष्य हैं। मनुष्य-मनुष्य का सीधा सम्बन्ध है। न हम इनके तत्र से बाधित हैं और न ये हमारे तत्र से बाधित हैं। **मुक्तता के लिए मनुष्य का केवल मनुष्य होना आवश्यक है। मनुष्य का मनुष्य के नाते मनुष्य से सीधा सम्बन्ध होना चाहिए।**

आज का सम्बन्ध ऐसा नही है। किसी का धनी के नाते सम्बन्ध है। एक को धन की आवश्यकता है और एक के पास धन देने की क्षमता है। यह दाता और आदाता का सम्बन्ध है। इसी प्रकार मालिक और नौकर, सरक्षक और सरक्षिता आदि-आदि अनेक सम्बन्ध हैं।

जितने भी ऐसे सम्बन्ध हैं, वे मानवीय आधार पर नही हैं, योगज हैं। हमारे शब्द-जगत् की निष्पत्ति अधिक योगज है। शुद्ध शब्द कम है। शब्द तीन प्रकार के हैं—रूढ, यौगिक और मिश्र। रूढ शब्द कम हैं। अधिकाश शब्द यौगिक और मिश्र है।

सामाजिक चेतना मे परस्परता का भाव है, उससे मुक्त होकर कोई जी नही सकता। किसी व्यक्ति को मोटर, रेडियो आदि आधुनिक सुख-सुविधा प्राप्त हो लेकिन पिता की सहानुभूति प्राप्त न हो तो पुत्र को कारा की-सी अनुभूति होगी। हर व्यक्ति प्रेम चाहता है। उसका अभाव हो तो

कभी-कभी व्यक्ति जीवन से ऊब उठता है। सामाजिक स्तर पर जीने वालो के लिए सहानुभूति का सूत्र आवश्यक लगता है। वीतरागता बहुत अच्छी है, किन्तु उसका कृत्रिम-प्रदर्शन—अपने स्वार्थ का उत्कर्ष—अच्छा नही है। 'मैंने पीया, मेरा बैल पीया, कुआ चाहे ढह पडे'—क्या यह वीतरागता है ? यह तो केवल अपने स्वार्थ का पोषण है। स्वार्थ मे दूसरो के लिए चिन्ता का अवकाश नही रहता। वीतरागता मे 'भूति' की क्रिया इतनी प्रबल हो जाती है कि वहा अनुभूति को अवकाश नही रहता। समस्या वहा है, जहा अनुभूति हो और 'सह' का अवकाश न हो।

दो व्यक्ति सह-भोजन करते हैं। एक के खाने से दूसरे का पेट नही भरेगा। पेट खाने वालो का ही भरेगा। जितनी मात्रा मे खाएगा, उतना ही पेट भरेगा। इस वैयक्तिक मर्यादा को अस्वीकार नही किया जा सकता। सह-भोजन मे मन को तोष मिलता है। खाने की तृप्ति और मन तृप्ति 'सह' के कारण हुई है। जहा भी 'सह' की स्थिति आती है, समस्याए सुलझ जाती हैं। छोटे सोचते हैं, बडे लोग हमारे साथ नही। छोटी उम्र वाले सोचते हैं, बडी उम्र वाले हमारे साथ नही हैं। साथ रहते हैं, फिर भी साथ नही हैं। यह अलगाव की अनुभूति सामाजिकता का प्रश्नचिह्न है। इसका समाधान होने पर ही सामाजिक सौन्दर्य सम्भव है।

'सङ्गच्छध्व सवदध्व स वो मनांसि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सज्जानाना उपासते ॥'

यह वैदिक मत्र मुझे बहुत आकर्षक लगता है। जैन-सूत्रो मे साधारण-शरीरी जीव का उल्लेख मिलता है। साधारणशरीरी जीव यानी एक शरीर मे अनन्त जीव। वे एक साथ जन्मते हैं, साथ मे खाते हैं, साथ मे सास लेते हैं, साथ मे सुख-दु ख की अनुभूति होती है और एक साथ मरते हैं। ऐसी साधारणता यदि मनुष्य मे आ जाए तो विश्व का स्थित्यन्तर हो जाए। इस सभावना के निचले स्तर पर भी [illegible] करने से दूसरो को क्लेश होगा'—इस अनुभूति का तार साध[illegible] सा[illegible] हार नही हो सकता।

जव तक यह स्थिति नही वनती है तव तक मानसिक अशान्ति के अनेक हेतु उपस्थित हो जाते हैं। वहुत वार हम एकागी हो जाते हैं। कभी हेतु पर अटक जाते है, कभी उपादान तक चले जाते है। केवल हेतु और केवल उपादान की मर्यादा अपने आप मे पूर्ण नही है। दोनो का योग होने से क्रिया निष्पन्न होती है। हेतु हैं, उपादान नही है तो कोई क्रिया निष्पन्न नही होगी। उपादान है, हेतु नही है तो भी कोई क्रिया निप्पन्न नही होगी।

प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धान्त है कि रोग का उपादान—विजातीय तत्त्व विद्यमान हैं तो वाहर से निमित्त मिलते ही रोग उभर आता है। विजातीय तत्त्व नही हैं तो वाह्य निमित्त मिलने पर भी रोग नही होता। रोग के उभरने मे उपादान और हेतु का योग होता है।

अहिंसा या दया का भाव हर व्यक्ति मे होता है और घृणा का भाव भी हर व्यक्ति मे होता है। निमित्त मिलने पर वे उभर आते हैं।

आज अणुव्रत के मच मे धर्म के प्रायोगिक स्वरूप या अहिंसक समाज-रचना की वात सोची जा रही है। इस सदर्भ मे, मैं कहना चाहता हू कि स्वार्थ की प्रवलता से जो चैतसिक मूर्च्छा आ गई है, उसे मिटाए विना यानी सहानुभूति का विस्तार किए विना शान्ति के द्वार खुल नही पाएगे।

५ : सहिष्णुता

सहिष्णुता का अर्थ है—सहन करना। इसका दूसरा अर्थ है—शक्ति। दोनो अर्थों के योग से ही सहिष्णुता मनुष्य के लिए उपयोगी बनती है। शक्ति-शून्य सहिष्णुता परवशता हो सकती है, अपनी स्वतन्त्र चेतना की स्फूर्ति नही। जहा शक्ति के साथ सहिष्णुता होती है, वहा मानवीय स्पर्श होता है। उसमे न अहभाव होता है और न हीनभाव। अहभाव और हीनभाव विषमता है। इससे मानवीय अन्त करण का स्पर्श नही होता। स्पर्श समता मे है। प्रकृति का वैषम्य मानवीय सम्बन्धो को विच्छिन्न करता है। एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध तभी हो सकता है, जबकि दोनो ओर से साम्य हो, न हीनभाव हो और न अहभाव हो। **अध्यात्मयोग और** क्या है ? यह साम्य ही तो अध्यात्मयोग है। आचार्य सोमदेव सूरि ने आत्मा, मन, मरूत् और तत्त्व के समतापूर्ण सम्बन्ध को ही अध्यात्मयोग माना है—**'आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणोह्यध्यात्मयोग'**।

सहिष्णुता अपेक्षित क्यो है ?

जितने मनुष्य हैं, वे रुचि, विचार, सस्कार व कार्य की दृष्टि से सम नही हैं। वे बाह्य आकार से एक-सम न हो तो कोई कठिनाई नही। पर रुचि आदि सम नही हो तो उससे कठिनाई पैदा होती है। उस कठिनाई का निवारण सहिष्णुता के द्वारा ही किया जा सकता है। असहिष्णुता आते ही

स्थिति गडबडा जाती है। एक वार हाथ, जीभ, दात, पैर आदि एकत्र हुए। सवने निर्णय किया कि हम सव काम करते हैं पर पेट कुछ नही करता। जो हमारे साथ श्रम न करे, योग न दे, उसका हमे सहयोग नही करना चाहिए। सवने हडताल कर दी। एक दिन वीता, दो दिन वीते। हाथो मे सनसनी छा गई, जीभ का स्वाद विगड गया, मुह थूक से भर गया, दातो मे मैल जम गया, वदवू आने लगी। तीसरे दिन सव मिले और हडताल समाप्त कर दी।

हर व्यक्ति मे रुचि का भेद होता है। शिविर मे चालीस-पचास व्यक्ति हैं। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि यदि भिन्न हो तो उसके अनुसार पचास प्रकार के साग चाहिए। ऐसा सम्भव नही। इस असभवता को मिटाने के लिए रुचि का सामजस्य आवश्यक होता है। यह रुचि का सामजस्य ही सहिष्णुता है। इसके अभाव मे योग नही, वियोग की स्थिति हो जाती है।

सघीय शक्ति के निर्माण व सुरक्षा के लिए सहिष्णुता अत्यन्त अपेक्षित है। जो प्रमुख हो उसके लिए और अधिक। श्रीकृष्ण गणतन्त्र के प्रमुख थे। अक्रूर और भोजवशी नरेश विरोधी दल के नेता थे। वे भी कृष्ण पर तीव्र प्रहार करते थे। एक दिन कृष्ण उनकी आलोचना से खिन्न हो गए थे। इतने मे नारदजी आ गए। पूछा—'उदास क्यो हैं?' कृष्ण ने उत्तर दिया—'इनसे मैं तग आ गया हू। कोई मार्ग वताइये, अव क्या करू?' नारद ने कहा—'दो आपदाए होती हैं—वाह्य और आन्तरिक। आपके सामने आन्तरिक आपदा है। वाह्य आपदा को यक्ति शस्त्र से दूर कर सकता है। आन्तरिक आपदा मे शस्त्र काम नही देता।' 'तो फिर क्या किया जाए?' तव नारद ने अनायस शस्त्र मे उनकी जीभ वन्द करने की सलाह दी—

'अनायसेन शस्त्रेन, मृदुना हृदयच्छिदा।
जीह्वामुद्धर सर्वेषा, परिमृज्यानुमृज्य च।'

शस्त्र एक ही प्रकार का नही होता। वादशाह ने वीरवल से पूछा—'शस्त्र क्या है?' वीरवल ने उत्तर दिया—'अवसर।' वादशाह ने कहा—

'क्या कह रहे हो ? तलवार, भाला, तोप—ये तो शस्त्र हो सकते हैं पर **अवसर** कैसे ?' बीरबल ने कहा—'कभी प्रमाणित करूगा।' एक दिन बादशाह की सवारी निकल रही थी। हाथी उन्मत्त हो दौडने लगा। बीरबल ने आगे बढ चारो तरफ देखा, एक कुत्ते के सिवाय कुछ नही था। तत्काल उसने कुत्ते की टाग पकडकर घुमाया और हाथी पर दे मारा। हाथी वापस मुड गया। कुत्ता क्या शस्त्र है ? पर अवसर था, कुत्ता शस्त्र बन गया। शास्त्र भी कभी-कभी शस्त्र बन जाते है। शास्त्र और शस्त्र मे केवल एक मात्रा का भेद है।

शब्दो की चर्चा और शास्त्रो के प्रमाण से मनुष्य जितना पथमूढ बनता है, उतना शस्त्र से भी नही बनता। कभी-कभी प्रयोग मे शास्त्र भी शस्त्र जैसा बन जाता है।

कृष्ण ने पूछा—'**अनायस शस्त्र क्या है** ?' इस पर नारद ने कहा—

'शक्त्यान्नदान सतत, तितिक्षार्जवमार्दव।
यथार्हप्रतिपूजा च, शस्त्रमेतदनायसम् ॥

'विरोधियो को जितना दे सकें, अन्न दें। तितिक्षा रखें—उनके शब्द सुन तत्काल आवेश मे न आए। ऋजुता का व्यवहार करें। मृदुता रखें। बडो का सम्मान करें। यह **अनायस शस्त्र** है, बिना लोहे का शस्त्र है।'

नारद ने कहा—'इस शस्त्र से आप उनको वश मे कर सकते है।'

कृष्ण—'क्या मैं कमजोर हू ? क्या मुझमे शक्ति नही है, जो उनकी बातो को सहन करू ?'

गाली देने वाला प्रतिक्रिया मे गाली इसीलिए देता है, 'कि क्या मैं कमजोर हू ?' तत्काल अहभाव उभर आता है। व्यक्ति प्रतिक्रिया मे लग जाता है। नारद ने कहा—जो महान् होता है वही सहन कर सकता है—

'नाऽमहापुरुष कश्चित्, नाऽनात्मा नाऽसहायवान्।
महतीं धुरमाधत्ते, तामुद्यम्योरसावह ॥'

धुरा आपको चलाना है। जो महान् नही, वह सहन नही कर सकता। जो आत्मवान् नही, वह सहन नही कर सकता। जो सहाय-सम्पन्न नही,

वह सहन नही कर सकता । क्या आप महान्, आत्मवान् और सहाय-सम्पन्न नही हैं ? कमजोर व्यक्ति कभी सहिष्णु नही बन सकता। **सहिष्णु वही बन सकता है, जो शक्तिशाली होता है।** यहा पीछे पर्दा है। पर्दे का होना और धूप का न आना—दोनो जुडे हुए हैं। वैसे ही शक्ति का होना और क्रोध का न होना, दोनो जुडे हुए है।

मानसिक शान्ति के लिए सहिष्णुता आवश्यक है। यह प्रमोद-भावना का बडा अग है। गुणी के गुणो को देख मन मे प्रसन्न होना, ईर्ष्या न करना प्रमोद-भावना है। जहा सहिष्णुता होगी वहा प्रमोद-भावना का विकास होगा।

एक करोडपति परिवार था, सब तरह से सम्पन्न। उनमे एक व्यक्ति प्रमुख रूप से काम देखता था, शेष उसके सहयोगी थे। उनके दिल मे एक विचार आया। यह तो केवल आज्ञा चलाता है। व्यापार हम करते हैं, पूछ इसकी होती है। असहिष्णुता का भाव आया और सब अलग-अलग हो गए। परिणाम यह हुआ कि जो प्रमुख था, वह कुशल था, इसलिए उसने कुशलता से अपना काम जमा लिया। शेप कठिनाई मे पड गए।

दूसरो को नीचा दिखाने का भाव भी असहिष्णुता से आता है। एक सेठ के घर दो पडित आए। एक पडित कार्यवश इधर-उधर गया। सेठ ने दूसरे से पहले का परिचय पूछा। उसने कहा—'मेरा अधिक सम्पर्क नही है, अभी साथ हुए थे। लगता है यह तो बना-बनाया बैल है।' पहला पडित आया तो दूसरा किसी कार्यवश बाहर गया। उससे दूसरे पडित का परिचय पूछा गया तो उत्तर मिला—'यह तो पडित क्या है, गधा है।' सेठ ने भोजन के समय एक के सामने चारा और एक के सामने भूसा रख दिया। पडितो ने अपना अपमान समझा। सेठ ने कहा—'मुझे तो यही परिचय मिला था।' दोनो पडितो के सिर झुक गए।

किसी भी क्षेत्र मे चले जाइए। एक कलाकार दूसरे कलाकार की, एक साहित्यकार दूसरे साहित्यकार की, एक धार्मिक दूसरे धार्मिक की प्रगति को सहन न करे, उसकी प्रशसा न करे तो क्या कला, साहित्य और धर्म का

उत्कर्ष हो सकता है ? लोग चाहते हैं समाज सुखी हो, सर्वत्र शान्ति हो। सुख-शाति क्यो नही है ? इस प्रश्न पर विचार करते समय सीधा ध्यान अर्थ-तत्र और राज-तत्र की अव्यवस्था पर जाता है। यह सत्य है कि वाह्य-व्यवस्था का असर होता है। पर व्यक्ति के अपने स्वभाव का असर होता है, उस ओर ध्यान नही जाता। यह वाह्य के प्रति जागरुकता और अध्यात्म के साथ आखमिचौनी है। लोग सोचते हैं, अध्यात्म से क्या ? उससे न रोटी मिलती है, न कपडा और न मकान। रोटी, कपडा और मकान जिसके लिए है, वह मनुष्य है। उसका निर्माण अध्यात्म से होता है। जिसके लिए वस्तुए हैं, उसका यदि निर्माण न हो तो रोटी, कपडे और मकान का क्या होगा ? पदार्थ का अपने आप मे मूल्य नही है, मूल्य है व्यक्ति का। चैतन्य मे आनन्द-उल्लास नही है और वाहर सव-कुछ प्राप्त है तो उस एक के अभाव मे सब व्यर्थ हो जाते हैं। शेष पर ध्यान न दें, यह मैं नही कहता। मैं यह कहता हू कि विशेष ध्यान मनुष्य पर दे। मनुष्य के मन को शान्त-सतुलित वनाने की प्रक्रिया न होगी तो वह प्राण-शून्य होगा। सारी अच्छाइयो और सारी वुराइयो का उत्स मन है। मन की क्षमता को बढाने के लिए सहिष्णुता का विकास आवश्यक है। मन की शक्ति का विकास सहिष्णुता का विकास है। मन की शान्ति का ह्रास सहिष्णुता का ह्रास है।

६ : न्याय का विकास

न्याय क्या है ? एक नीति शब्द है, एक न्याय शब्द है। नीति का अर्थ है—ले जाने वाली। **नीति मार्ग है और न्याय लक्ष्य है।** जहा पहुचना है, वह न्याय है। इसका शाब्दिक अर्थ है—वापस आना। पक्षी दिन मे उड जाते हैं और शाम को वापस घोसले मे आते हैं। सस्कृत शब्दानुशासन के न्यायो की बूढ़े की लाठी से तुलना की गई है—**'न्याया स्थविरयष्टिप्राया ।'** आवश्यकतावश बूढा लाठी को टिकाता है, नही तो हाथ मे ले चलता है। सब जगह उसे टिकाना अनिवार्य नही है। शायद हर न्याय की यही स्थिति है। समयानुसार न्याय के रूप भी बदलते रहे है। इतिहास बताता है, सामन्तशाही युग मे दास को रखना न्याय था—राज्य-सम्मत था। दास का कार्य था मालिक की सेवा करना। स्वतन्त्र रहना उसके लिए अन्याय था। मालिक चाहते तो कान काट लेते, नाक काट लेते, और भी अगच्छेद कर देते, मौत का दण्ड भी दे देते थे। वैसा करना मालिक के लिए अन्याय नही था। उस युग मे एक व्यक्ति चाहे जितना धन रख सकता था। दूसरे के पास कुछ भी नही होता, फिर भी वह अन्याय नही माना जाता था। शक्ति और धन का अनुबन्ध मान लिया गया था।

धर्म के क्षेत्र मे न्याय का रूप था—पति के साथ पत्नी जीवित जल जाती थी। इसे धर्म का अनुमोदन मिलता था। इस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र मे न्याय के भिन्न-भिन्न रूप थे।

आज उन न्यायो का रूप वदल चुका है। दास की तो कल्पना ही नही की जा सकती। नौकर के साथ क्रूर व्यवहार घृणित कार्य माना जाता है। सग्रह भी लगभग अन्याय की देहलीज पर आ खडा है। एक करोडपति है, दूसरा भूखा है, यह अन्याय मान लिया गया है।

न्याय का आधार समता है। एक शब्द मे कहू तो विषमता अन्याय है, समता न्याय है। एकागी कोण अन्याय है, सर्वांग-दृष्टि न्याय है।

समता यान्त्रिक नही होनी चाहिए। यान्त्रिक वस्तुए सम आकार-प्रकार की हो सकती है। मनुष्य मे यदि यान्त्रिक समता हो तो चैतन्य का मूल्य ही क्या ? मनुष्य के अस्तित्व का अर्थ ही है—यान्त्रिक समता से मुक्ति पाना। वाह्य आकार मे फलित होनेवाली समता मुझे कभी प्रभावित नही कर सकी। विविधता दु खद नही, सुखद होती है। दिल्ली मे एक ही प्रकार के पेड हो तो मन को नही भाते। पुराने ज़माने मे राजा किसी को दण्ड देता था तो उसे एक ही रग के मकान मे रख देता था। परिणामत आख विकृत हो जाती। दूसरी चीज़ें देखने को न मिलने से आखो का प्रकाश कम हो जाता। मनुष्य विविधता चाहता है। नाना प्रकार की वस्तुए मन को लुभाती हैं। एक व्यक्ति की तरह सबका आकार और कद होता तो सौन्दर्य नही होता। किसी की पहचान का मौका नही मिलता। एक को देखने से सबका ज्ञान हो जाता, अलगाव जैसा कुछ होता ही नही। वाह्य वातावरण मे समता न फलित होनेवाली है और न वाछनीय ही है। व्यक्ति के अन्त करण में समता होनी चाहिए, वर्ण-प्रकार भले ही भिन्न हो। अन्तर मे समता हो तो वाह्य विषमता दु खदायी नही होती। मन का द्वैध वाह्य मे फलित होने से कष्ट होता है। विल्ली अपने दातो से वच्चे को पकडती है और चूहे को पकडती है। दात एक ही हैं। दातो के पीछे मन की क्रिया भिन्न है। एक के पीछे वत्सलता है, दूसरे के पीछे क्रूरता। एक व्यक्ति पुत्री से आलिगन करता है और पत्नी से भी आलिगन करता है। आलिगन समान है पर मन की क्रिया भिन्न-भिन्न है। हाथ सहज उठता है। तर्जना के समय अगुली उठने पर स्वरूप वदल जाता है। तर्जना की शक्ति कहा है,

अगुली मे या मन मे ? मन मे तर्जना का भाव आते ही अगुली उठ जाती है। घृणा का भाव आते ही अगूठा दिखा दिया जाता है। विजली के करेंट की तरह मन का प्रवाह वाहर फूट पडता है।

विषमता का मूल अन्त करण है। वह वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होता है। क्रोध के समय भृकुटि मे तनाव आ जाता है। घृणा मे नाक सिकुड जाती है। भाषा भाव की अभिव्यक्ति के लिए वनी है। स्थायी भाव, सचारी भाव आदि सारे भावो मे मन का योग होता है। आखें जड हैं, काच हैं। उसके पीछे जो प्राण है, वह चैतन्य की प्रतिष्ठा है।

मन के केन्द्र मे देखें, विषमता कितनी है। वाह्य परिस्थिति मे विपमता की ओर जितना ध्यान दिया गया उतना यदि आन्तरिक विषमता की ओर दिया जाता तो परिस्थिति भिन्न प्रकार की होती।

एक आचार्य ने शिष्य से कहा—साप को नाप आओ। वह भूमि को चिह्नित कर उसे नाप आया। गुरु ने सोचा—काम नही वना। दूसरी वार कहा—साप के दात गिन आओ। क्या यह वैपम्य नही है ? मारने का प्रयत्न नही है ? शिष्य के मन मे विपरीत भावना नही हुई, उसने गुरु की कृपा मानी। दात गिनने का यत्न किया और साप ने उसे काट लिया। गुरु ने कहा—आ जाओ। शिष्य को सुला दिया और कम्वल ओढा दिया। पसीना आया, शरीर से कीडे निकले। रोग मिट गया, शरीर स्वस्थ और सुन्दर हो गया। आपात्-दर्शन मे यह प्रकार अच्छा नही लगता। वाह्य मे वैपम्य था पर अन्तर् मे विराट् प्रेम था। अन्तर् मे प्रेम का प्रवाह हो तो कुछ भी खलता नही। अन्तर् मे प्रेम न हो और वाहर मे समता का प्रदर्शन हो तो भी मन को भाता नही। इसलिए अन्तर् की समता को विकसित किया जाए। जिनके साथ हार्दिक सम्वन्ध हो जाता है, उनके लिए प्राण देने मे भी कष्ट की अनुभूति नही होती।

कानून वाहर मे आता है। अध्यात्म अन्त करण से निकल वाहर को प्रभावित करता है। समस्या इसलिए उत्पन्न होती है कि अन्त करण पर ध्यान नही दिया जाता। अन्त करण मे विपमता का मनोभाव न हो तो

खलता नही है। कुम्भकार की तरह चोट के पीछे परिवार और जगत् के प्रति सुरक्षा का भाव हो तो वाह्य विषमता कभी नही खलती।

अन्याय दूसरो के प्रति ही नही, अपने प्रति भी होता है। खाने मे क्या अपने साथ अन्याय नही किया जाता ? दातो और आतो के साथ अन्याय किया जाता है। चवाकर न खाने से दातो की शक्ति क्षीण होती है। पायरिया की बीमारी हो जाती है। विना चवाए लार भीतर नही जाती। पचाने मे आतो को कष्ट होता है। कई व्यक्ति चाय और दूध इतना गरम पीते है कि कटोरे को सडासी से पकडना होता है। जिसका स्पर्श हाथ नही कर सकते, उसे आतें कैसे सह सकेंगी ! व्यक्ति जानता है, 'मेरा पेट ठीक नही है, मैं नही पचा सकता'—फिर भी स्वादवश खा लेता है। परिणाम भोगना पडता है। दूसरी इन्द्रियो के साथ भी वहुत वार न्याय नही किया जाता।

एकागी दृष्टिकोण

कुछ लोग धर्म की ओर इतने झुकते हैं कि उन्हें धर्म से इधर-उधर कुछ नही दिखाई देता। कुछ लोग धन की ओर इतने झुकते हैं कि वे धन के लिए प्राणो की भी परवाह नही करते। कुछ लोग काम (सेक्स) की ओर अधिक झुक जाते हैं। इस एकागिता से मानसिक अशान्ति उत्पन्न होती है। प्राचीन समाजशास्त्रियो ने इस विषय पर मन्थन कर एक निष्कर्ष निकाला था कि धर्म, अर्थ और काम का परस्पर-विरोध भाव से सेवन करना चाहिए।

एक व्यक्ति गृहस्थ की भूमिका मे रहना चाहता है, वच्चे और परिवार को रखना चाहता है और अपने दायित्व से हटना भी चाहता है। यह मतिभ्रम है। एक व्यक्ति ने आचार्यश्री से पूछा—'गाय को घास डालने मे क्या होता है ?' आचार्यश्री ने उत्तर दिया—'गाय के रखने मे क्या होता है ? जो गाय को रखने मे होता है, वही उसको घास डालने मे होता है।' जो व्यक्ति गाय को रखे, दूध पीए और घास डालते समय सोचे कि इसमे क्या होगा, यह व्यामोह जैसा है। स्वार्थवृत्ति होती है तव घास डालने मे

पाप का प्रश्न उठता है। दूध लेने मे वह (पाप) आगे उपस्थित नही होता। आचार्य भिक्षु ने स्वार्थवृत्ति को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया। 'चार यक्तियो को एक गाय दक्षिणा में मिली। चारो ने समझौता कर एक-एक दिन दोहना स्वीकार किया। पहले ने घास नही डाली। सोचा—'दूसरे दिन वाला डाल देगा।' दूसरे ने सोचा—'पहले वाले ने घास डाली ही है, तीसरे दिन वाला फिर डाल देगा। एक दिन मे क्या होगा?' सभी ने ऐसा ही सोचा। दूध तो सभी ने लिया, पर घास किसी ने नही डाली। परिणामत गाय मर गई।

परिवार से काम लेना और दायित्व से जी चुराना न्याय नही है। इसी प्रकार धर्म, अर्थ और काम—इन तीनो मे से एक का अधिक सेवन करना न्याय नही है। इसीलिए आचार्य सोमदेव ने लिखा है—

धर्म का अतिसेवन काम और धन को पीडित करता है।
काम का अतिसेवन धर्म और धन को पीडित करता है।
धन का अतिसेवन धर्म और काम को पीडित करता है।

एकागी दृष्टिकोण अपूर्ण होता है। बाह्य वातावरण मे समता तभी फलित होती है जब उसके नीचे सौन्दर्य, प्रेम और पवित्रता होती है। यह न्याय के द्वारा सभावित है। मन की शान्ति तब तक नही, जब तक न्याय नहीं। **मन की शान्ति बाह्य वातावरण मे नहीं, मन में होती है। मन अनाकुल हो तो मनुष्य कोलाहल में रहकर भी शान्ति पा सकता है और मन अनाकुल न हो तो जगल मे रहकर भी शान्ति नहीं पा सकता।**

'यह गाव है, यह जगल है'—यह कल्पना उन लोगो की है, जो दुष्टात्मा नही है। जो आत्मदर्शी है, उनके मन मे गाव और जगल का भेद नही रहता।'

हम जितने बाहर फैले हुए हैं उतने ही आत्मा से दूर जा रहे हैं। यह अन्याय है। आत्मा मे प्रतिष्ठित होना न्याय है। आत्म-प्रतिष्ठा और न्याय की भाषा एक होने पर अन्याय का प्रश्न नहीं रहता।

७ : परिस्थिति का प्रबोध

सूर्य की रश्मिया जैसे ही धरातल का स्पर्श करती हैं, वैसे ही अधकार के परमाणु आलोक मे बदल जाते हैं। यदि पदार्थ-जगत् मे बदलने की क्षमता नही होती तो जो जैसे है, वह वैसा ही रहता। किन्तु ऐसा नही है। जो है, वह बदलता है और प्रतिक्षण बदलता है। पदार्थ मे एक ऐसा परिवर्तन होता है, जो हमारी स्थूल-दृष्टि से गम्य नही है। वह सूक्ष्म होता है, इसलिए उस परिवर्तन से हमे रूपान्तरण की प्रतीति नही होती। स्थूल हेतुओ से होने वाले परिवर्तन स्थूल होते है और उनके हेतु भी स्पष्ट होते हैं। कुछ हेतु अपना प्रभाव छोड जाते हैं और कुछ हेतु अपनी उपस्थिति तक अपना प्रभाव डालते हैं और अनुपस्थिति मे वह (प्रभाव) समाप्त हो जाता है। लाल कपडे से प्रभावित होकर स्फटिक लाल हो जाता है और लाल कपडे के हट जाने पर उसकी लालिमा समाप्त हो जाती है। एक आदमी पत्थर से ठोकर खाकर चोट खा लेता है। पत्थर का योग अल्पकालीन होता है किन्तु उसका परिणाम दीर्घकाल तक रह जाता है। निमित्तो, हेतुओ या कारणो की समुचित उपस्थिति मे वस्तु को नया आकार प्राप्त होता है। वह बहुत स्पष्ट और स्थूल होता है, इसलिए उसे हम परिवर्तन कहते हैं।

परिवर्तन के दो बीज हैं—उपादान और हेतु। क्षमता-बीज परिस्थिति का योग पाकर अकुरित हो जाते हैं। परिस्थिति का योग पाए बिना क्षमता-बीज अकुरित नही होते। जो क्षमता-बीज नही है, वे परिस्थिति का

योग होने पर भी अकुरित नही हो सकते। बीज और परिस्थिति दोनो का उचित योग होने पर ही परिवर्तन होता है। सूर्य की गरमी से धरती तप उठती है किन्तु आकाश नही तपता। जिसमे ताप-ग्रहण की क्षमता नही है, वह सूर्य की उपस्थिति मे भी नही तपता। धरती मे ताप-ग्रहण की क्षमता है पर वह सूर्य की अनुपस्थिति मे नही तपती।

परिस्थिति केवल बाह्य वातावरण या परिवेश ही नही है। वह बाह्य और आन्तरिक दोनो वृत्तो के धागो से अनुस्यूत होती है। हर वस्तु का अपना स्वभाव होता है। अगूर मे जो मधुरता है, वह मिर्च मे नही है और मिर्च मे जो तिक्तता है, वह अगूर मे नही है। परिस्थिति के पट का एक तन्तु है—**स्वभाव की मर्यादा।**

बजरी का पाक चौमासे मे होता है तो चना सर्दी मे पकता है। चने की बुआई आषाढ मे और बजरी की बुआई मिगसर मे नही होती। परिस्थिति के पट का दूसरा हेतु है—**काल की मर्यादा।**

घर मे बिजली है। उसमे प्रकाश देने की क्षमता भी है। किन्तु बटन दबाने को कोई हाथ नही उठता है तो बिजली के होने पर भी प्रकाश नही मिलता। परिस्थिति के पट का तीसरा तन्तु है—**प्रवृत्ति या पुरुषार्थ की मर्यादा।**

मनुष्य मे प्रकाश का सस्कार सचित है, इसीलिए वह अधकार मे प्रकाश का सरक्षण चाहता है। सस्कार भावी उपलब्धि के दरवाजे को खटखटाता ही नही, खोल भी देता है। परिस्थिति के पट का चौथा तन्तु है—**सस्कार या भाग्य की मर्यादा।**

यह विश्व कुछ सार्वभौम नियमो से बधा हुआ है। उनका अतिक्रमण नही होता। विश्व का एक नियम है—ध्रुवता। जो सत् है, वह ध्रुव है। इसी नियम के आधार पर विश्व था, है और होगा। विश्व का दूसरा नियम है—परिवर्तनशीलता। जो सत् है, वह परिवर्तनशील है। इस नियम के आधार पर विश्व रूपान्तरित हुआ है, हो रहा है और होता रहेगा। परिवर्तनशीलता विश्व का अपरिहार्य नियम है, इसीलिए कुछ बदलता है

और कुछ वदलने का हेतु वनता है। परिस्थिति के पट का पाचवा तन्तु है—**नियति—सार्वभौम नियम।**

वस्तु की अनेक क्षमताए उपयुक्त परिस्थिति (सावन-सामग्री) के अभाव मे व्यक्त नही हो पाती। सचित कर्म का भी साधन-सामग्री के विना पूरा परिपाक नही होता। शरीर की लम्वाई और चौडाई, रूप और रग भौगोलिक वातावरण से प्रभावित होते हैं। मानसिक उतार-चढाव वाह्य सम्पर्कों से प्रभावित होते हैं। विचार वाह्य दृश्यो और रगो से प्रभावित होते हैं। कोई भी व्यक्ति परिस्थिति के प्रभाव से मुक्त नही होता, जो उसके प्रभाव-क्षेत्र मे होता है। ठडी हवा चलती है, आदमी काप उठता है। कम्पन निर्हेतुक नही है। कडी धूप होती है, पसीना चूने लग जाता है। पसीना निर्हेतुक नही है। मन के प्रतिकूल योग मिलता है, आदमी क्रुद्ध हो उठता है। अचिन्त्य सामग्री मिल जाती है, आदमी गर्वोन्मत्त हो जाता है। हर्ष और उल्लास, भय और शोक मे ये सभी आवेग परिस्थिति के योग से अभिव्यक्त होते हैं। इनकी अभिव्यक्ति से मन का सतुलन विगडता है। फलत मन अशान्त हो उठता है।

परिस्थिति के प्रभावक्षेत्र मे रहकर मन उससे अप्रभावित नही रह सकता। वह भावना से भावित होकर उसके प्रभाव-क्षेत्र के वाहर आ जाता है। फिर यह परिस्थिति के हाथ का खिलौना नही होता।

अनित्य-भावना से प्रभावित मन सयोग-वियोग की ऊर्मियों से प्रताड़ित नहीं होता। अशरण-भावना से प्रभावित मन असहाय नहीं होता। एकत्व-भावना से प्रभावित मन सामाजिक जीवन के सघर्षों से व्यथित नहीं होता। मैत्री-भावना से प्रभावित मन आशका, कुशका, सन्देह, भय और द्वेष के चक्र से मुक्त हो जाता है। प्रमोद-भावना से प्रभावित मन ईर्ष्या से सत्रस्त नहीं होता। करुणा-भावना से प्रभावित मन से क्रूरता विसर्जित हो जाती है। मध्यस्थ-भावना से प्रभावित मन क्रोध और निराशा से बच जाता है।

अनुकूलता का वियोग, प्रतिकूलता का सयोग, असहायता की अनुभूति,

सघर्ष, सन्देह, भय, द्वेष, ईर्ष्या, क्रूरता, क्रोध और निराशा—ये सब मन मे असन्तुलन उत्पन्न करते हैं। असन्तुलित मन मे अशान्ति उत्पन्न होती है। वह सुख को लील जाती है। भावना, शान्ति और सुख मे कार्य-कारण का सम्बन्ध है। गीता मे लिखा है—

'न चाभावयत शान्ति, अशान्तस्य कुत सुखम् ?'

भावना के विना शान्ति नही होती, शान्ति के विना कुछ नही होता। भावना सस्कार-परिवर्तन की पद्धति है। ध्येय के अनुकूल वार-वार मनन, चिन्तन और अभ्यास करने पर पूर्व-सस्कार का विलोप और नये सस्कार का निर्माण हो जाता है।

अशान्ति के हेतुभूत सस्कारो का विलयन किए विना कोई भी व्यक्ति शान्ति का स्पर्श नही कर सकता। परिस्थिति सदा एकरूप नही रहती। कभी वह अनुकूल होती है और कभी प्रतिकूल हो जाती है। अनुकूलता मे जिसे हर्ष की तीव्र अनुभूति होती है, वह प्रतिकूलता मे शोक की तीव्र वेदना से वच नही सकता। अपनी चेतना और पुरुषार्थ को सत्य की अनुभूति मे प्रतिष्ठित करने वाला व्यक्ति परिस्थिति से आहत नही होता। असत्य का चुम्वकीय आकर्षण परिस्थिति के प्रभाव को अपनी ओर खींच लेता है। सत्य मे वह चुम्वकीय आकर्षण नही है, इसलिए परिस्थिति का प्रभाव उसकी ओर प्रभावित नही होता। अग्नि से वहुत सारी वस्तुए जल जाती हैं पर अभाव नही जलता। परिस्थिति से वही मन जलता है, जो सत्य की भावना से प्रभावित नही है।

८ : सर्वांगीण दृष्टिकोण

जीवन मे सवसे प्राथमिक मूल्य मानसिक शान्ति का है। मानमिक शान्ति के वारे मे समग्रता से किन्तु सहजता से चिन्तन होना चाहिए। जो योजनाकृत होता है, वह वहुत अच्छा नही होता। जो सहज भाव से निकले, वह स्वाभाविक होता है। जो वुद्धिपूर्वक होता है, वह स्वाभाविक नही होता। वृक्ष अनित्य होता है क्योकि वह कृतज्ञ है। घट भी अनित्य है, क्योंकि वह कृतज्ञ है। आकाश नित्य है क्योकि वह अकृत है। कृत का मूल्य शाश्वत नही होता। सहज निष्पन्न अच्छा होता है।

मैंने मानसिक शान्ति के सोलह सूत्र निश्चित किए हैं। उनमे पूर्वापर क्रम नही सोचा था। किन्तु अव लगता है कि उनमे क्रम है। शरीर और मन का गहरा सम्वन्ध है। इन्द्रियो के साथ भी मन का घनिष्ठ योग है। उन्हे साधना भी वहुत आवश्यक है। एक योगविद् ने कहा है—

'तत्त्वविज्ञानवैराग्यरुद्धचित्तस्य खानि मे।
न मृतानि न जीवन्ति न सुप्तानि न जाग्रति ॥'

हमारी इन्द्रिया साधना के द्वारा ऐसी हो जाए कि न वे मृत हो और न जाग्रत। मृत इसलिए नही कि उनमे विषय-ग्रहण की शक्ति है। जीवित इसलिए नही कि उस समय विपय-आसक्ति न रहे। सुप्त इसलिए नही कि विपय के अग्रहण मे निद्रा जैसी परवशता नही है। जागृत इसलिए नही कि वे विपयो की ओर व्यापृत नही होती।

इन्द्रिय और आत्मा के बीच मे मन है। मन बाहर जाता है, इन्द्रिया बहिर्मुखी हो जाती हैं और वह भीतर जाता है, इन्द्रिया अन्तर्मुखी हो जाती हैं। मन पर बाह्य संघर्षों का प्रभाव होता है, इसलिए हमने उन पर भी विचार किया है।

मन को कौन प्रभावित नही करता ? यह सौर-जगत्, वनस्पति-जगत्, प्राणी-जगत्, परमाणु-जगत्—सभी मन को प्रभावित कर रहे हैं। योग के आचार्यों ने इस विषय पर विशद विवेचन किया है।

मन बाह्य आकर्षणो और विकर्षणो से जुडा है। अभी देख रहा हू, कही मे कोई स्पर्श नही हो रहा है। किन्तु सच यह है कि असख्य परमाणु स्पृष्ट हो रहे है, आ रहे हैं, जा रहे है। एक अमेरिकन महिला डॉ० जे० मी० ट्रष्ट ने अणु-आभा के फोटो लिये। आणविक प्रभाव को देखते हुए यह कहना बहुत सरल नही है कि मैं स्वतन्त्र बुद्धि से सोच रहा हू। हर व्यक्ति बाह्य परिस्थिति और निमित्तो मे बधा हुआ है। आज कोई भी शरीर-धारी, जो इस जीवमण्डल और वायुमण्डल मे जी रहा है, सार्वभौम स्वतन्त्र नही है। जो कोई विचार निष्पन्न होता है, वह अनेक वस्तुओं के योग मे निष्पन्न होता है, इसलिए निरपेक्षता की बात करना नितान्त अज्ञान होगा।

हमारा दृष्टिकोण सापेक्ष होना चाहिए। हमारे एक विचार के पीछे अनेक अपेक्षाए होती हैं। सापेक्षता से हमारी मानसिक शान्ति को बल मिलता है। एकागी दृष्टिकोण से अशान्ति निष्पन्न होती है।

इन इक्कीस दिनो मे आप लोगो ने मुझे, जैनेन्द्रजी और दादा धर्माधिकारी को सुना। कभी लगा कि हम लोग भिन्न-भिन्न बातें कर रहे हैं, कभी लगा कि निकट आ रहे हैं। कभी लगा कि विरोधी बातें कर रहे हैं और कभी लगा कि एक ही बात कर रहे हैं।

इस दुनिया मे अनेक मार्ग हैं। आदमी भटक जाता है, किधर जाए ? किसे सुने ? और किसे माने ? निर्णय नही कर पाता। एक की बात सुनता है तो वह ठीक लगती है। दूसरे का तर्क आने पर वह ठीक नही लगती। इन शब्द के जगत् मे न जाने कितने तर्कों और वादो का जाल बिछा है।

आप महाभारत को पढिए। कही आपको काल की अनन्त महिमा मिलेगी। लिखा है—काल से सारी बातें निष्पन्न होती हैं। समय पर सूर्य उदय होता है, समय पर वृक्ष फलते-फूलते हैं, समय पर वर्षा होती है और समय पर आदमी जन्मता-मरता है। ऐसा लगता है समय ही सब कुछ है।

पुरुषार्थ को सुनेंगे तो लगता है कि पुरुषार्थ के सिवाय और कुछ नही है। सत्य यही है कि पुरुषार्थ करें।

भाग्य के उदाहरण हजारो मिलेंगे। पढा-लिखा नौकरी कर रहा है और अनपढ धनवान बना हुआ है। वर्षों तक पुरुषार्थ किया पर कुछ नही बना। नियतिवादी कहते हैं—सब अपने आप हो जाएगा। करने कौन जाता है।

कितने वादो का चक्र है। मन मे उलझन पैदा कर देता है। बहुत सारे मानसिक सिद्धान्तो को लेकर उलझे रहते हैं और उनकी मानसिक शान्ति भग हो जाती है। एकागी विचारो के आधार पर चलेंगे तो मानसिक शान्ति कभी नही मिलेगी। इसलिए दृष्टि को सापेक्ष बनाए। जो सत्य दुनिया मे है उसे सोलह के सोलह आना कहने के लिए किसी के पास शब्द नही हैं। मैं बोल रहा हू और जानता हू कि अनत सत्य के एक अश पर निश्चित बोल रहा हू। अश को पूर्ण मानते ही सत्य की हत्या हो जाती है।

ज्ञान अच्छा है। पर आप उसकी पकड मे आ गए तो कर्म-विमुखता प्राप्त होगी। इस कर्म-विमुखता की स्थिति का अनुभव हुआ, तभी यह कहना पडा—

'दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञान स्वयमनाचरत ।'

'जो आचरण नही करता उसका ज्ञान विधवा के शृगार के समान शरीर के लिए भारभूत ही होता है।'

क्षमा अच्छी है पर सर्वत्र उसकी अच्छाई मान्य नही हुई इसीलिए कहा गया—

'क्षमा भूषण यतीनां न भूपतीनां ।'

सन्तोष अच्छा है। उसके समान सुख नही है पर सन्तोषी राजा अपन

राज्य गवा देता है 'सन्तुष्टो राजा विनश्यति।'

सन्तोषी व्यापारी भी नष्ट हो जाता है।

हर विचार अपनी भूमिका से आता है। उसी के सन्दर्भ मे उसका मूल्याकन होता है और होना चाहिए।

सत्य अनन्त है। कोई भी शब्द व भाषा उसके एक अश को भी पूरा नही कह सकती। हम कहते हैं, सर्वज्ञ ने ऐसा कहा है। सर्वज्ञ जान सकता है पर कह तो नही सकता। इसीलिए कहा गया है कि प्रज्ञापनीय अनन्त है। वाणी का विषय उसका एक हिस्सा भी नही वनता।

तीन लोक के सारे द्रव्य-पर्यायो को जाननेवाला भी एक द्रव्य के अनन्त पर्यायो मे से हजार पर्यायो की भी व्याख्या नही कर सकता।

एक व्यक्ति जितना जानता है उतना ही ठीक है, या जो जानता है वही ठीक है, शेष नही—यह असत्य है। जो पहले जान लिया गया वही ठीक है, शेष नही, तो क्या पूर्वजो ने यह कभी कहा कि हमने पूरा सत्य कह दिया है, आगे के लिए दरवाजा वन्द है ? यह मानना चाहिए कि जव तक ससार रहेगा, मनुष्य रहेगा, आत्मा की उपासना रहेगी, सत्य की खोज रहेगी, तव तक नयी-नयी उपलब्धिया होती रहेगी। यह दृष्टि स्पष्ट रहेगी तो अपनी मानसिक शान्ति का भग नही होगा।

दादा धर्माधिकारी ने आर्थिक उत्पादन और वितरण के पहलू पर प्रकाश डाला। जैनेन्द्रजी ने वाह्य परिस्थिति पर प्रकाश डाला, कभी-कभी आन्तरिकता पर भी। मैंने मानसिक शान्ति की चर्चा की।

ये सारे चिन्तन एकागी हैं। जीवन का पक्ष एक ही नही है। मानसिक शान्ति की चर्चा हो, यदि रोटी न हो तो शान्ति नही मिलती। भूखा क्या पढेगा ? प्यास है, क्या वह साहित्य के रस से वुझ जाएगी ?

एक रोगी स्वास्थ्य की कामना लिये चला। आयुर्वेदिक, होमियोपैथिक, ऐलोपैथिक, यूनानी, प्राकृतिक आदि चिकित्सको के पास गया। सवने अपनी-अपनी पद्धति का महत्त्व वताया और दूसरी का खण्डन किया। मैंने कई प्राकृतिक चिकित्सको को सुना है। वे जव ऐलोपैथी का खण्डन करते

हैं तब उनकी आत्मा मुखर हो उठती है। मैं स्वय प्राकृतिक चिकित्सा को महत्त्व देता हू। लेकिन एकान्तिक आग्रह मुझे अच्छा नही लगता। शल्य-चिकित्सा मे प्राकृतिक चिकित्सा क्या करेगी ? आयुर्वेद वाले ऐलोपैथिक का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं—ऐलोपैथी दवा रोग को एक बार दवा देती है, उसकी प्रतिक्रिया होती है, तब दूसरे रोग उभर आते हैं। आयुर्वेदी चिकित्सा मे रोग को जड से मिटाने का प्रयत्न होता है और ऐलोपैथी मे वर्तमान पर ध्यान दिया जाता है। दीर्घकालीन चिकित्सा मे आयुर्वेद सक्षम है और तात्कालिक चिकित्सा मे ऐलोपैथी भी। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन सारी दृष्टियो से देखने पर सत्य के निकट पहुचा जा सकता है। एकागी दृष्टि से सत्य का किनारा नही मिलता।

कई अध्यात्म पर बल देते हैं पर आसन, प्राणायाम आदि को अच्छा नही मानते। यह एकान्तिक आग्रह है। अमुक-अमुक रोग मे आसन और प्राणायाम भी उपयागी बनते हैं। एक भूमिका मे धर्म साधन है और आवश्यक है पर मुक्ति-दशा मे धर्म अनावश्यक बन जाता है। एकागी आग्रह किसी भी क्षेत्र मे ठीक नही। एक बात को त्रैकालिक मान पकड बैठने मे कठिनाई होती है।

हमारे व्यवहार की भूमिका यह है कि हम न अप्रिय सत्य बोलें और न असत्य बोलें किन्तु पाक्षिक सत्य बोलें। इस विषय मे मैं एक कहानी प्रस्तुत कर रहा हू। एक बार एक राजा ने, जो कि काना था, चित्रकारों को आमन्त्रित किया। उसने कहा—'मेरा चित्र सुन्दर होना चाहिए, सत्य होना चाहिए, किन्तु नग्न सत्य नही होना चाहिए।' एक लाख रुपये के पुरस्कार की घोषणा की। सबके सामने समस्या थी कि शर्तों की पूर्ति कैसे हो ? तीन चित्रकारो ने चित्र बनाना स्वीकार किया। एक चित्रकार चित्र ले जब राजा के पास पहुचा तो उसे देख राजा ने कहा—'चित्र सुन्दर है, मुह मे बोल रहा है पर सत्य नही है क्योकि इसमे दो आखें दिखाई गई है।' दूसरे चित्रकार का चित्र देख राजा ने कहा—'चित्र साक्षात् बोल रहा है, सुन्दर भी है, पर इसमे एक आख फूटी हुई दिखाई गई है, इसलिए यह नग्न सत्य

है।'

तीसरे ने तन्मयता से सोचकर चित्र बनाया। उसने कल्पना से दिखाया कि राजा शिकार के लिए प्रत्यचा ताने हुए है जिससे हाथ की ओट मे एक आख आ गई। राजा ने उसे देखकर प्रसन्नता व्यक्त की और उसे एक लाख रुपये दिए। तीसरा चित्र न असत्य था और न नग्न सत्य किन्तु पाक्षिक सत्य था।

कई लोग स्पष्ट कहने मे अपना गौरव मानते है। पर नग्न सत्य ग्राह्य नही होता। कई लोग दूसरे को प्रसन्न रखने के लिए असत्य का सहारा लेते हैं। वह उनके अहित के लिए होता है। पाक्षिक सत्य ग्राह्य भी होता है और हितकर भी।

हमारा दृष्टिकोण सर्वांगीण, सामजस्यपूर्ण और सापेक्ष होना चाहिए। सर्वांग दृष्टि मे सत्य की दूरी नही होती। सारे विचारो को एक सूत्र मे पिरोने से माला बन जाती है। यही अनेकान्त है। एक माला न बनने से एक-एक मनका विखर जाता है।

सत्य को किसी पर थोपने का अधिकार मुझे नही है। मैंने तो स्याद्-वाद के विचार से अपने-आपको बाधा है। मुझे लगता है दृष्टि सत्योन्मुख है तो जीवन मे कोई क्लेश नही है। आचार्यश्री ने मुझे सत्य की दृष्टि दी है। आगम-शोधकार्य के लिए आचार्यश्री ने मुझे कहा—'हम बडा दायित्व-पूर्ण कार्य कर रहे है। कही भी साम्प्रदायिक दृष्टि से मत सोचना कि हमारी मान्यता क्या है? जो सत्य लगे उसे प्रकट कर देना है। अपनी परम्परागत मान्यता के लिए उल्लेख किया जा सकता है कि हमारी मान्यता यह है। पर सत्य को अपनी मान्यता से नही रगना है।'

व्यक्ति अधिक प्रिय है या सत्य? परिस्थिति अधिक प्रिय है या सत्य? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य भिक्षु ने दिया था। उन्होने कहा—'आज मैं जो कह रहा हू, वह मेरी दृष्टि मे शुद्ध है। कल कोई बहुश्रुत या तत्त्वविद् हो, उसे यह ठीक न लगे तो इसे छोड दे।' उन्होंने कभी ऐसी लक्ष्मण-रेखा नही खीची कि इस रेखा से बाहर सत्य नही है। ऐसा कहना आग्रह हो जाता है।

कोई भी शब्द, भाषा या पदार्थ ऐसा नही है जो सत्य की परिपूर्ण व्याख्या दे सके, सारे विचारो को हम इस सदर्भ मे देखें। सापेक्ष सत्य मान-कर उसे स्वीकार करें। समग्रता से जो वात आएगी, वह ग्राह्य होगी।

सूर्य चला जाता है, फिर अधकार छा जाता है। पुराने ज़माने मे दीप से प्रकाश करते थे। आज विजली से प्रकाश किया जाता है। प्रकाश के अनेक साधन हो सकते है और उनमे तारतम्य भी हो सकता है। परन्तु प्रकाश प्रकाश है। सूर्य प्रकाश देता है और दीया भी प्रकाश देता है। वैसे ही सत्य है। सत्य चाहे सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ हो या किसी तुच्छ व्यक्ति द्वारा। सत्य सत्य है, उसमे अन्तर नही। मात्रा मे तारतम्य हो सकता है।

समग्रता के सदर्भ मे आप सारी प्रक्रिया पर विचार करेंगे तो मुझे विश्वास है कि आप मानसिक शान्ति से वचित नही रहेंगे।

निगमन

यदग्राह्य न गृह्णाति, गृहीत नापि मुचति।
जानाति सर्वथा सर्वं, तत् स्वसवेद्यमस्म्यहम् ॥

आचार्य पूज्यपाद ने अह की व्याख्या करते हुए कहा है—जो अग्राह्य का ग्रहण नहीं करता, गृहीत को छोडता नहीं, सबको सवथा जानता है वह 'अह' है। जहा अग्राह्य का ग्रहण, गृहीत का मोचन और असर्व का ज्ञान है, वहा अहं की सत्ता-प्राप्ति नहीं है।

जो अह की कल्पना है, वही अहिंसक समाज की कल्पना है। स्वभाव कभी त्यक्त नही होता। त्यक्त विभाव होता है। जो 'अह' मे इतर है, उसे त्यागना है। यही अणुव्रत है।

प्रश्न—अणुव्रत साधना-शिविर मे खेती, उत्पादन, औजार आदि की चर्चा होती है, अच्छा खाते-पीते हैं, मनोरजन करते हैं। क्या यही साधना है? ध्यान, मौन आदि तो कम होते है। यह साधना-गृह है या मनोरजन-गृह?

उत्तर—जो साधना की निश्चित रेखा बना रखी है, उसी के भीतर साधना है, बाहर नही, यह क्यो मान रखा है? साधन क्या है? पहले इसे समझें। ध्यान, मौन, शिथिलीकरण साधना है, पर क्या बोलने-चलने, खाने-पीने, उठने-बैठने मे साधना नही है? एक-दूसरे के साथ सद्व्यवहार करना साधना नही है? यदि नही, तो मैं कहूगा साधना का अर्थ आपकी

समझ मे ही नही आया।

दो राजा अपने-अपने रथ पर चढ शिकार को गए। एक का रथ जल गया। दूसरे का घोडा मर गया। दोनो अपूर्ण हो गए। जगल से वापस आने मे कठिनाई हुई। दोनो ने समन्वय किया। एक ने घोडा दिया और दूसरे ने रथ। रथ पूर्ण हो गया, दोनो बैठ नगर मे आ गए। इसे **दग्धाश्व-रथ न्याय** कहते हैं। साधना की भी यही बात है। उसका एकागी रूप पार ले जाने वाला नही होता। अमुक देश, काल व प्रवृत्ति मे साधना हो सकती है, अन्यत्र नही हो सकती, यह आग्रह जहा है, वहा साधना की अखण्डता मान्य नही है। दो घटे साधना मे बीते और शेष बाईस घटे असाधना मे, यह जीवन की द्विविधा है।

इससे दूसरो के मन मे धर्म के प्रति श्रद्धा नही होती। प्रात काल उठने से लेकर सोने तक जीवन के हर व्यवहार मे द्विविधा न रहे, साधना की एकलयता रहे, यही अणुव्रत है। अणुव्रत शब्द से ही साधना का भाव प्रकट होता है। फिर भी 'अणुव्रत साधना शिविर' मे अणुव्रत शब्द के आगे साधना शब्द और जोडा गया है। सस्कृत-व्याकरण मे 'वीप्सा' शब्द आता है। वीप्सा का अर्थ है—'व्याप्तुमिच्छा'—अर्थात् व्याप्त होने की इच्छा। वीप्सा मे दो बार, चार बार कहना दोष नही है। वीप्सा के अर्थ मे ही अणुव्रत शब्द के आगे साधना का योग किया गया है।

ध्यान, मौन, आसन आदि आवश्यक नही, ऐसा नही है। पर वे ही साधना नही है। **दिन-भर के व्यवहार मे जागरूक रहना साधना है।** एक व्यक्ति अभी शिविर मे रहा, बहुत धार्मिक था। बडी निष्ठा के साथ चार-पाच घटे ध्यान, मौन आदि करता था। पर व्यवहार की उपेक्षा करता था। पत्नी और ससुराल वाले सब नाराज थे। उन लोगो की भी उन्हें देख धर्म के प्रति अरुचि-सी हो गई थी। वह धार्मिक क्या जो व्यवहार का लोप करे! यहा रहकर साधना की और साधना के बारे मे विचार बदले। जीवन मे परिवर्तन आया। ज्योही धर्म-आचरण के साथ व्यवहार के प्रति सजग हुआ, साधना को हर व्यवहार मे उतारने का यत्न किया तो आस-

पास का वातारण प्रसन्न हो गया।

यदि जीवन मे मानवीय व्यवहार का प्रतिविम्व न हो, विचारो मे स्पष्टता न हो, मिथ्या दृष्टिकोण हो और हम कल्पना करें, कि ध्यान होगा, कैसे होगा ? साधना को एकागी या विभक्त मानकर चलें तो वह सही है। उपवास, ध्यान, मौन—ये साधन हैं। साधन और सिद्धि का व्यवधान कम होगा, उतनी ही साधना सफल होगी।

स्थितप्रज्ञ सारे दिन वोलता है, फिर भी वह मौन है। क्रोध या लडाई से मुह सुजाकर वैठ जाना क्या मौन है ? यदि है तव तो वगुला भी ध्यानी हो जाएगा। इसी भ्रम मे राम ने वगुले की प्रशसा की थी—

'पश्य लक्ष्मण ! पपाया, वक परमधार्मिक ।
दृष्ट्वा-दृष्ट्वा पद धत्ते, जीवाना वधशकया ॥'

राम की वात सुन एक मछली वोली—

'वक कि शस्यते राम ! येनाह निष्कुलीकृत ।
सहचारी विजानीयात्, चरित्र सहचारिणाम् ॥'

वहू रूठकर घर के कोने मे वैठ गई। कुछ नही खाया। क्या उसे उपवास मानेंगे ? कुछ नही करना ही साधना नही है और कुछ करना ही असाधना नही है। साधना वह है, जहा आन्तरिक जागरूकता हो, भले फिर वह प्रवृत्ति हो या निवृत्ति।

०००